पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३५

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

जैन और बौद्ध भिक्षुणी-संघ

(एक तुलनात्मक अध्ययन)

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

डॉ० अरुण प्रताप सिंह

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३५ सम्पादक-डॉ० सागरमल जैन

जैन और बौद्ध भिक्षुणी-संघ

(एक तुलनात्मक अध्ययन)

लेखक

डॉ० अरुण प्रताप सिंह

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

परम आदरणीय डॉ० पी० सी० पन्त
को
सविनय सादर भेंट

सरयू
२५।१२।८८

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ३५ सम्पादक—डॉ० सागरमल जैन

जैन और बौद्ध भिक्षुणी-संघ

(एक तुलनात्मक अध्ययन)

लेखक
डॉ० अरुण प्रताप सिंह

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी—५

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी–२२१००५

प्रकाशन वर्ष : १९८६

संस्करण : प्रथम

प्राप्ति-स्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी–२२१००५

मूल्य :
सत्तर रुपये

मुद्रक :
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

भूमिका

भारतीय संस्कृति की श्रमण परम्परा संन्यास मार्ग की समर्थक है। किन्तु संन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करने का पुरुषों के समान स्त्रियों का भी अधिकार है या नहीं यह प्रश्न विवादास्पद ही रहा है। वैदिक परम्परा में कलिकाल में स्त्री के लिए संन्यास को वर्ज्य कहकर उसे प्रव्रजित होने से रोका गया। यद्यपि भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थों वेद, उपनिषद् आदि में संन्यासिनियों के यत्र-तत्र कुछ सन्दर्भ अवश्य उपलब्ध हैं फिर भी यह एक स्पष्ट तथ्य है कि वैदिक धारा में नारी जाति को संन्यास-मार्ग में प्रविष्ट होने से रोका ही गया। श्रमण परम्परा में भगवान् बुद्ध जैसा महान् व्यक्तित्व भी नारी जाति को संघ में ससंकोच ही प्रवेश दे पाया। यद्यपि जैन आगमिक स्रोतों से हमें यह पता लगता है कि श्रमण धारा की निर्ग्रन्थ परम्परा में भगवान् महावीर और उनके पूर्व भगवान् पार्श्व ने नारी-जाति को उन्मुक्त भाव से संघ में प्रवेश दिया। ऐतिहासिक आधारों पर यह एक सुनिश्चित सत्य है कि पार्श्व के समय में एक सुव्यवस्थित भिक्षुणी संघ का निर्माण हो चुका था। यद्यपि परम्परागत दृष्टि से जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में पूर्ववर्ती तीर्थंकरों एवं बुद्धों के संघ में भी भिक्षुणी वर्ग की उपस्थिति की परिकल्पना की गई है।

वस्तुतः नारी-जाति को प्रव्रजित होने से रोकने के दो कारण थे। प्रथम तो यह कि पुरुष सदैव से स्त्री को एक भोग्या के रूप में देखता रहा और इसी कारण उसे स्वतन्त्र जीवन जीने के लिए सहमत नहीं हो सका। इसका दूसरा कारण यह भी था कि नारी-जाति के संघ-प्रवेश से श्रमण वर्ग के चारित्रिक स्खलन की सम्भावनायें अधिक बढ़ जाती थीं। बुद्ध का भिक्षुणी संघ के निर्माण में जो संकोच था उसका मूल कारण यही था। किन्तु दूसरी ओर ऐसी अनेक विवशतायें भी थीं जिनके कारण इन धर्मशास्ताओं को भिक्षुणी संघ का निर्माण करना ही पड़ा। पति के प्रव्रजित होने पर अथवा पति एवं पुत्र की मृत्यु हो जाने पर नारी को सम्मानपूर्ण जीवन जीने के लिए भिक्षुणी बनना एकमात्र विकल्प था। यही कारण था कि भिक्षु संघ की अपेक्षा भिक्षुणी संघ की सदस्य संख्या में सदैव अभिवृद्धि होती रही।

शोध के क्षेत्र में भिक्षु संघ पर स्वतंत्र रूप से एवं तुलनात्मकरूप से कुछ ही कार्य हुए हैं किन्तु भिक्षुणी संघ के सम्बन्ध में कोई भी स्वतन्त्र अध्ययन नहीं हुए हैं। यद्यपि जैन, बौद्ध एवं हिन्दू परम्परा में नारी जाति की स्थिति को लेकर पूर्व में कुछ शोधकार्य हुए हैं किन्तु जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ पर स्वतन्त्र रूप से एवं तुलनात्मक रूप से कोई भी कार्य नहीं हुआ है। डा० अरुण प्रताप सिंह ने इस विषय पर तुलनात्मक अध्ययन किया है। आज उनकी इस कृति को प्रकाशित रूप में देखकर निश्चय ही अति प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। डा० अरुण प्रताप सिंह प्रारम्भ से ही एक मेधावी छात्र रहे हैं उन्होंने अपने इस अध्ययन को पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है और यथासम्भव अपने अध्ययन को जैन और बौद्ध परम्परा के आगम ग्रन्थों पर आधारित किया है। साथ ही निष्पक्ष भाव से यह तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मुझे विश्वास है कि शोध के क्षेत्र में उनका यह प्रयास स्मरणीय रहेगा।

दलसुख मालवणिया
भू० पू० निदेशक
ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर
अहमदाबाद

प्रकाशकीय

जैन और बौद्ध भिक्षुणी-संघ नामक प्रस्तुत ग्रन्थ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत कृति डॉ० अरुण प्रताप सिंह के उपर्युक्त विषय पर लिखे गये शोध-प्रबन्ध का संशोधित एवं परिवर्धित रूप है। डॉ० अरुण प्रताप सिंह पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के न्यूकेम शोध छात्र रहे हैं और उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा सन् १९८२-८३ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। डॉ० अरुण प्रताप सिंह वर्तमान में भी संस्थान के सह शोध-अधिकारी के रूप में कार्यरत हैं। उनके अध्ययन के इस प्रतिफल को आज प्रकाशित करते हुए हमें परम प्रमोद का अनुभव हो रहा है।

भारतीय आध्यात्मिक साधना में तथा भारतीय धर्मों, विशेषकर श्रमण परम्परा के धर्मों के विकास में नारी जाति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन एवं बौद्ध धर्म के भिक्षुणी-संघों ने इन धर्मों के उन्नयन तथा विकास में जो भूमिका प्रस्तुत की है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह रहा कि पुरुष-प्रधान संस्कृति के कारण हमेशा नारी जाति के योगदानों का सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जाता रहा। इसीलिए आज जहाँ भिक्षु-संघ का किसी सीमा तक विस्तृत एवं व्यवस्थित इतिहास मिलता है, वहीं भिक्षुणी-संघ का इतिहास आज भी अंधकार से आवृत्त है। मात्र यही नहीं, अपितु उनके आचार एवं व्यवहार के जो नियम प्रस्तुत किये गये हैं, उन पर भी समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक दृष्टि से गम्भीर चिन्तन नहीं किया गया है। डॉ० अरुण प्रताप सिंह की इस प्रस्तुत कृति में जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघों के आचार-नियमों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत है। पाठकों को यह जानकर भी प्रसन्नता होगी कि वे दोनों भिक्षुणी-संघों के ऐतिहासिक विवरणों को भी संकलित कर रहे हैं और शीघ्र ही इसी क्रम में उनकी एक अन्य प्रति प्रकाशित होगी।

जैन परम्परा का समग्र इतिहास इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि जैन संघ में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या सदैव अधिक रही है। आज भी जैन परम्परा में मुनियों की अपेक्षा

साध्वियों की संख्या न केवल अधिक है, अपितु उनका चरित्र-बल, उनकी ज्ञान-साधना और उपासकों पर उनका व्यापक प्रभाव है।

हमें आशा है कि इस कृति के माध्यम से पाठक वर्ग जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघों के न केवल आचार-नियमों को समझेगा अपितु उनके महत्त्व का भी मूल्यांकन करेगा तथा दोनों परम्परा के आचार-नियमों को निकटता से जान सकेगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में आदरणीय श्री नवलमल जी फिरोदिया द्वारा प्राप्त धनराशि का विनियोग किया गया है। आदरणीय फिरोदिया जी का संस्थान के विकास में रुचि है और उन्होंने जब यह ग्रन्थ निर्माण की प्रक्रिया में था, तभी १०,००० रुपये की एक राशि प्रकाशन कार्य हेतु दी थी। संस्थान इसके लिए उनका एवं उनके ट्रस्ट के न्यासी मण्डल का आभारी है।

डॉ० अरुण प्रताप सिंह ने न केवल प्रस्तुत कृति का प्रणयन ही किया है, अपितु उसके प्रकाशन, प्रूफ-संशोधन आदि को भी रुचि लेकर पूरा किया है, अतएव संस्था उनके प्रति आभारी है। हम महावीर प्रेस और उसके संचालक श्री बाबूलाल जी फागुल्ल एवं श्री राजकुमार जी जैन के भी आभारी हैं जिन्होंने प्रस्तुत कृति के सुन्दर एवं कलापूर्ण मुद्रण कार्य को पूर्ण किया है।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
सोहनलाल जैन धर्म प्रसारक समिति
फरीदाबाद

डॉ० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान
वाराणसी–५

प्राक्कथन

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में दो मुख्य धाराएँ रही हैं—प्रवृत्ति-मार्गी धारा तथा निवृत्तिमार्गी धारा। यह निवृत्तिमार्गी धारा ही श्रमण-परम्परा के रूप में विकसित हुई। गृह-त्याग कर संन्यास धर्म का पालन करना श्रमण-परम्परा की मुख्य विशेषता रही है। जैन एवं बौद्ध धर्म श्रमण-परम्परा के मुख्य निर्वाहक रहे हैं। इन दोनों धर्मों में व्यवस्था के लिए संघ को चार भागों में विभाजित किया गया था—(१) भिक्षु-संघ, (२) भिक्षुणी-संघ, (३) श्रावक-संघ (उपासक-संघ), (४) श्राविका-संघ (उपासिका-संघ)। इनमें भिक्षु एवं भिक्षुणी-संघ विशेष महत्त्वपूर्ण थे, क्योंकि ये श्रमण-परम्परा के आधार स्तम्भ थे। दोनों धर्मों में अधिकांश नियमों एवं उपनियमों का निर्माण भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए किया गया था। प्रस्तुत प्रबन्ध में भिक्षुणियों से सम्बन्धित आचार-व्यवहार के नियमों का विवेचन किया गया हैं।

यद्यपि जैन एवं बौद्ध धर्मों में आचार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी, परन्तु बौद्ध धर्म के थेरवादी निकाय के भिक्खुनी-पातिमोक्ख तथा महासांघिक निकाय के भिक्षुणी-विनय के अतिरिक्त कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भिक्षुणियों की संघ एवं आचार-व्यवस्था पर नहीं लिखा गया। अन्य बौद्ध ग्रन्थ यथा–महावग्ग, चुल्लवग्ग तथा निकाय साहित्य में यत्र-तत्र ही भिक्षुणियों के आचार-नियमों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन साहित्य में भी भिक्षुणियों से सम्बन्धित कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। आचारांग, स्थानांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहार सूत्र, निशीथ सूत्र तथा इनके व्याख्या एवं टीका ग्रन्थों में जैन भिक्षुणियों के आचार से सम्बन्धित नियम बिखरे हुये प्राप्त होते हैं।

श्रमण-परम्परा से सम्बन्धित आधुनिक काल में भी अनेक पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं परन्तु इन ग्रन्थों में भी भिक्षुणियों अथवा उनके संघ का वर्णन अत्यन्त सीमित मात्रा में किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें द्रष्टव्य हैं—"कान्ट्रीव्यूशन टू द हिस्ट्री ऑफ ब्राह्मनिकल एस्केटिसिज्म" (हरदत्त शर्मा), एस्केटिसिज्म इन एन्सेन्ट इण्डिया (हरिपद

चक्रबोर्ति), अर्ली बुद्धिस्ट मोनासिज्म (सुकुमार दत्त), अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म (नलिनाक्ष दत्त) आदि पुस्तकें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें श्रमण परम्परा का एक सम्यक् चित्र उपस्थित होता है, परन्तु इन पुस्तकों में भिक्षुणियों एवं उनके संघ के नियमों का वर्णन अत्यन्त अल्प हुआ है। इसी प्रकार हिस्ट्री ऑफ जैन मोनासिज्म (एस० बी० देव) में विद्वान् लेखक ने श्रमण-परम्परा के उद्गम को दिखाते हुये जैन भिक्षुओं के आचार सम्बन्धी नियमों की विस्तृत विवेचना की है—साथ ही जैन भिक्षुणियों से सम्बन्धित नियमों का भी विवेचन किया है, परन्तु यह वर्णन संक्षिप्त है जिससे जैन भिक्षुणियों का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित नहीं होता। वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म (आई० बी० हार्नर) तथा विमेन इन बुद्धिस्ट लिटरचर (बी० सी० ला) पुस्तकें केवल बौद्ध भिक्षुणियों से सम्बन्धित हैं। किसी भी पुस्तक में जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों के आचार-नियमों की तुलना का कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया गया। यह आवश्यक था कि लगभग एक ही काल में विकसित तथा एक ही श्रमण-परम्परा से सम्बन्धित इन दो महत्त्वपूर्ण भिक्षुणी-संघों के आचार नियमों का तुलनात्मक रूप से विवेचन किया जाये।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में दोनों धर्मों के भिक्षुणी-संघों का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उनके संन्यस्त जीवन के प्रत्येक पक्ष पर दोनों धर्मों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

इस अध्ययन में बौद्ध भिक्षुणियों के सन्दर्भ में गुस्तव राथ द्वारा सम्पादित महासांघिक भिक्षुणी-विनय का प्रचुर उपयोग किया गया है। थेरवादी तथा महासांघिक निकाय के नियमों की तुलना से हम बौद्ध भिक्षुणियों से सम्बन्धित मूल नियमों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से इस पुस्तक का अभी तक किसी ने उपयोग नहीं किया था।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त आभिलेखिक साक्ष्यों का भी बहुलता से उपयोग हुआ है। देश के विभिन्न भागों से प्राप्त इन अभिलेखों की सहायता से जैन तथा बौद्ध भिक्षुणी-संघ के प्रसार को प्रदर्शित किया गया है। भिक्षु-भिक्षुणी सम्बन्धों पर भी साहित्यिक एवं अभिलेखीय सामग्री के अध्ययन से प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध नौ अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में इस बात का विवेचन है कि महावीर एवं बुद्ध के युग के पूर्व किसी प्रकार के भिक्षुणी-संघ का अस्तित्व था या नहीं ? जैन

एवं बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों यथा—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि में वनों में निवास करने वाली संन्यासीनियों के उल्लेख हैं किन्तु किसी प्रकार के भिक्षुणी-संघ का अस्तित्व नहीं मिलता। जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना का विवेचन भी इसी अध्याय में है। भिक्षुणी-संघ में प्रवेश की क्या योग्यताएँ थीं तथा नारियों के भिक्षुणी (संन्यासिनी) बनने के क्या कारण थे—दोनों संघों के सन्दर्भ में इसका तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में भिक्षुणियों के आहार एवं वस्त्र सम्बन्धी नियमों की चर्चा की गयी है।

तृतीय अध्याय में यात्रा एवं विहार (उपाश्रय) सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। इसी अध्याय में वर्षावास सम्बन्धी नियमों का भी उल्लेख है।

चतुर्थ अध्याय में भिक्षुणियों के दैनिक कृत्यों का वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय में भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियमों का विवेचन है।

षष्ठम अध्याय में संगठनात्मक एवं दण्ड-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों की मीमांसा की गई है। सर्वप्रथम जैन भिक्षुणी-संघ एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था का वर्णन किया गया है, तत्पश्चात् भिक्षुणियों से सम्बन्धित दण्ड-प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। अन्त में दोनों संघों के नियमों की समानता तथा अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनकी विवेचना की गई है।

सप्तम अध्याय में भिक्षुणियों तथा भिक्षुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का चित्रण है।

अष्टम अध्याय जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ के विकास एवं भिक्षुणियों की सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित है। सर्वप्रथम जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ के प्रसार की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इसमें अभिलेखों के माध्यम से भी जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ के प्रसार को दिखाने की चेष्टा की गई है। इसी सन्दर्भ में बौद्ध भिक्षुणी-संघ के पतन सम्बन्धी कारणों की भी विवेचना की गई है।

नवम अध्याय उपसंहार के रूप में है। इस अध्याय में भिक्षुणी-संघ के सामाजिक महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है तथा इस तथ्य की विवेचना की गई है कि तत्कालीन युग में भिक्षुणी-संघ की क्या उपयोगिता थी तथा उसका ऐतिहासिक महत्त्व क्या था।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को पूर्ण कराने का श्रेय आदरणीय गुरु डॉ०

महेश्वरी प्रसाद, रीडर, प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरा० विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, तथा डॉ० सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी को है, जिनका मैं कृतज्ञ एवं ऋणी हूँ। गुरुद्वय के उत्साहजनक, वात्सल्यपूर्ण तथा विद्वतापूर्ण निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध यथासमय में पूर्ण हो सका है।

मैं डॉ० एस० बी० देव, डाइरेक्टर, डेकन कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, का भी ऋणी हूँ। उन्होंने जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों से सम्बन्धित प्रत्येक नियमों की साथ-साथ ही तुलना करने की सलाह दी थी जिससे यह शोध-प्रबन्ध अधिक महत्त्वपूर्ण हो सका है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मेरे आदरणीय गुरु प्रो० जी० आर० शर्मा, प्रो० जे० एस० नेगी, प्रो० बी० एन० एस० यादव का मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके शुभाशीर्वादों के फलस्वरूप यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो सका है।

डॉ० मारूति नन्दन प्रसाद तिवारी, रीडर, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ० हरिहर सिंह, व्याख्याता, सान्ध्य कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, का मैं आभारी हूँ जिनसे समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव तथा प्रोत्साहन मिलता रहा।

सयाजीराव गायकवाड़ पुस्तकालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा शतावधानी रत्नचन्द्र पुस्तकालय, पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी के अधिकारियों का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तकें उपलब्ध कराने में प्रत्येक प्रकार से सहयोग दिया।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान द्वारा शोध छात्रवृत्ति तथा आवासीय सुविधा प्राप्त हुई, इसके लिए संस्थान के माननीय संचालकों एवं कर्मचारियों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मैं अपने मित्रों डॉ० भिखारीराम यादव, डॉ० रविशंकर मिश्र, श्री रवीन्द्र नाथ मिश्र, श्री अशोक कुमार सिंह, अजयकुमार सिंह, का भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनसे सर्वदा प्रोत्साहन मिलता रहा है। अन्त में, माता-पिता एवं पत्नी श्रीमती निर्मला सिंह के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखकर मुझे विद्या-उपासना का अवसर दिया।

ग्रन्थ-मुद्रण का कार्य वर्द्धमान मुद्रणालय ने सम्पन्न किया है–अतः उनके प्रति भी मैं अपना धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ।

बसंतपंचमी
दिनांक १४–२–८६

अरुण प्रताप सिंह

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

परिशिष्ट–अ

परिशिष्ट–ब

जइ सि रूवेण वेंसमणो, ललिएण नलकूबरो
तहा वि ते न इच्छामि, जइ सि सक्खं पुरदंरो

उत्तराध्ययन सूत्र, २२।४१

इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुखमाहिते
ञाणम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो

थेरीगाथा, गाथा, ६१

जैन और बौद्ध भिक्षुणी-संघ

प्रथम अध्याय

जैन एवं बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही श्रमण परम्परा के अस्तित्व के संकेत प्राप्त होते हैं। महावीर एवं बुद्ध के पूर्व न केवल श्रमण-परम्परा का अस्तित्व था, अपितु उसमें स्त्रियाँ भी दीक्षित होती थीं, यद्यपि उस युग में स्त्रियों के दीक्षित होने सम्बन्धी उल्लेख अत्यन्त विरल हैं।

वैदिक काल में श्रमण-परम्परा एवं स्त्रियाँ

ऋग्वेद में ऋषि, मुनि, यति, वातरशना, तपस् आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो उस युग में श्रमण-परम्परा के अस्तित्व के सूचक कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऐसे सात ऋषियों का उल्लेख है, जिन्होंने तपस्या के द्वारा दिव्य-दृष्टि प्राप्त की थी। ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में मुनि और वातरशना शब्द का प्रयोग हुआ है, जो पीला और मटमैला वस्त्र पहनते थे।[२] इस मन्त्र में 'वातरशना' मुनि का विशेषण है। "वातस्य" शब्द इस अर्थ का भी द्योतक है कि ये मुनि निर्वस्त्र रहते थे क्योंकि इसका अर्थ है—"वात ही जिनका वस्त्र है"। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में यह कहा गया है कि वे (मुनि) मृत्यु पाने वाले नश्वरों से भिन्न थे।[3] ऋषि-मुनि के समान ही "यति" शब्द का भी उल्लेख मिलता है। यति लोग अपने को मूल रूप से भृगु मुनि से सम्बन्धित मानते थे।[४] ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में यतियों का उल्लेख हुआ है।[५] इन मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि यति लोग अपनी तपस्या के द्वारा दिव्य शक्तियों से युक्त हो जाते थे।

---

१. ऋग्वेद, १०/१०९/४.

२. "मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला
वातस्यानु ध्राजियन्ति यद्देवासो अविक्षत"—वही, १०/१३६/२.

३. वही, १०/१३६/३.

४. वही, ८/६/१८.

५. वही, १०/७२/७.

अथर्ववेद[1] में भी ऐसे मुनियों का उल्लेख है, जिन्होंने अपनी साधना से रहस्यमयी शक्तियों को प्राप्त कर लिया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेदों में प्रयुक्त मुनि, यति, तपस् आदि शब्द केवल पुरुषों से ही सम्बन्धित हैं। किसी भी स्त्री के सन्दर्भ में इन शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है।

ऋग्वेद की "सर्वानुक्रमणिका" में घोषा, रोमशा, अपाला, विश्ववारा, सूर्यासावित्री, वाक् आम्भृणी आदि स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्हें ब्रह्मर्षियों के समान वेद-सूक्तों की रचना करने वाला कहा गया है। उनके द्वारा रचित कुछ सूक्तों में तो उनके नाम भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप-विश्ववारा आत्रेयी ने ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के २८ वें सूक्त की रचना की थी। अपाला ने आठवें मण्डल के ९१ वें सूक्त, जिसमें ७ मन्त्र हैं, की रचना की थी। सूर्यासावित्री दशवें मण्डल के ८५ वें सूक्त की ऋषिका थी, जिसमें ४७ मन्त्र हैं। काक्षीवती घोषा ने दशवें मण्डल के ३९वें तथा ४०वें सूक्त की रचना की थी, जिसमें प्रत्येक में १४-१४ मन्त्र हैं। वाक् आम्भृणी ने ऋग्वेद के दशवें मण्डल के १२५ वें सूक्त की रचना की थी, जिसमें ८ मन्त्र हैं। वाक् आम्भृणी ने दैवीय शक्तियों के गुणों को अपने पर आरोपित भी किया है। एक मन्त्र में वह कहती है "मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ विचरती हूँ, मैं मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ"।[2] इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में वह अपने को वायु से अभिन्न कहती है।[3]

यद्यपि ये स्त्रियाँ कवित्व-शक्ति से युक्त रही हैं किन्तु इनके लिए भिक्षुणी, संन्यासिनी या परिव्राजिका शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल की नारियाँ भिक्षुणी या संन्यासिनी नहीं बनती थीं। उस युग में गृहस्थ धर्म को त्यागकर भिक्षावृत्ति का जीवन व्यतीत करने वाली हमें किसी भी नारी का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत, नारियों के विवाह करने तथा गृहस्थ-धर्म का पालन करने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। आश्विन देवताओं की कृपा से चर्मरोग के ठीक हो जाने पर घोषा के विवाह का उल्लेख है। शची अपने पुत्र-पुत्रियों को महान् बनाने की कल्पना करती है।[4] इसी

---

१. अथर्ववेद, ७/७४/१.

२. ऋग्वेद, १०/१२५/१.

३. वही, १०/१२५/८.

४. वही, १०/१५९/४.

प्रकार सूर्यासावित्री के द्वारा रचित मन्त्र में स्त्री को अपने सास-ससुर के घर की साम्राज्ञी होने की कल्पना की गयी है।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिककालीन नारियाँ गृहस्थ-आश्रम में रहकर ही विद्या के प्रति समर्पित रहा करती थीं। यद्यपि कुछ नारियों में अध्यात्मिकता के प्रति गहरी रुचि थी, जैसे–वाक् आम्भृणी, जो देवताओं से अपनी अभिन्नता स्थापित करती है।

उपनिषत्काल में श्रमण-परम्परा एवं स्त्रियाँ

बृहदारण्यक्, छान्दोग्य, मुण्डक आदि कुछ प्राचीन उपनिषदों में ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख है, यथा–तपस्वी, संन्यासी, परिव्राजक—जिनसे वैदिककालीन श्रमण–परम्परा की निरन्तरता का बोध होता है। छान्दोग्योपनिषद्[2] में ब्रह्म तक पहुँचने के दो प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया गया है। पहला मौन द्वारा और दूसरा आत्मसंयम एवं तपस्या के द्वारा। प्रश्नोपनिषद्[3] में महर्षि पिप्पलाद ब्रह्म को जानने के लिए तपस्या को आवश्यक बताते हैं। इसी प्रकार बृहदारण्यक् उपनिषद्[4] के अनुसार भी ब्रह्म को जानने के लिए वेदों का अध्ययन, यज्ञ, दान और तप आवश्यक है। इनके द्वारा व्यक्ति अपनी दूषित चित्त-वृत्तियों का दमन कर मुनि हो जाता है। पुनः इसी उपनिषद् में ब्रह्म को जानने के लिए आत्मज्ञान और साथ ही गृह-त्याग को आवश्यक बताया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि द्वारा अपनी सम्पत्ति एवं पत्नियों को छोड़कर वन में जाने का उल्लेख है।[5] यहाँ पर याज्ञवल्क्य के इस कार्य के लिए 'प्रव्रज्या' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस उपनिषद् से यह भी स्पष्ट होता है कि परिव्राजक (संन्यासी) लोग गृह-त्याग के समय अपनी सम्पत्ति एवं पत्नियों को छोड़ देते थे और निस्पृह भाव से संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होते थे।

इसी उपनिषद् से ज्ञात होता है कि जब ऋषि याज्ञवल्क्य संसार से विरक्त होकर वन में जाने लगे तो उनकी पत्नी मैत्रेयी ने पूछा कि यदि सम्पूर्ण भूमण्डल धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उससे मुक्ति प्राप्त कर

१. ऋग्वेद, १०/८५/४५.
२. छान्दोग्योपनिषद्, ८/५.
३. प्रश्नोपनिषद्, १/२.
४. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/४.
५. वही, ४/४.

सकती हूँ। वह कहती है कि "उन वस्तुओं को लेकर मैं क्या करूँगी, जिनसे अमरत्व अर्थात् मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती"।[१] यहाँ मैत्रेयी को "ब्रह्मवादिनी"[२] कहा गया है। ब्रह्मवादिनी नारियों के लिए उपनीत होना एवं अग्निपूजा करना, वेदाध्ययन करना तथा भिक्षाटन करना आवश्यक था।

मैत्रेयी का अपने पति के साथ संन्यास-मार्ग का अनुसरण करना, इस तथ्य का सूचक है कि उस समय ऐसी परम्परा भी थी, जिनमें स्त्रियाँ प्रव्रज्या धारण करती थीं।

रामायण तथा महाभारत-काल में संन्यासिनी

संन्यासिनियों अथवा भिक्षुणियों का उल्लेख हम रामायण तथा महाभारत में प्रचुरता से पाते हैं। रामायण तथा महाभारत, इन दोनों महाकाव्यों का अन्तिम संकलन यद्यपि ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी की घटना है, परन्तु इनमें निहित परम्पराएँ छठी शताब्दी ईसा पूर्व की प्रतीत होती हैं।

रामायण में 'भिक्षुणी' 'तपसी' 'श्रमणी' आदि शब्दों के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि उस समय संन्यासिनियों अथवा भिक्षुणियों का अस्तित्व था और उनकी एक परम्परा थी। रामायण में पति के न रहने पर भिक्षुणी जैसा जीवन उत्कृष्ट माना गया है। राम के वन-गमन के समय सीता द्वारा भिक्षुणी-जीवन की प्रशंसा की गयी है।[३] अरण्यकाण्ड में शबरी को 'श्रमणी'[४] तथा 'तापसी'[५] कहा गया है। शबरी के भिक्षुणीपन की प्रशंसा करते हुए उसे "श्रमणी संशितव्रताम्" कहा गया है—अर्थात् वह अपने व्रतों के पालन में लगी रहती थी। इससे यह संकेत मिलता है कि श्रमणियों के लिए कुछ व्रतों का विधान था।

रामायण की तरह महाभारत से भी यह ज्ञात होता है कि नारियाँ वन में तपस्या करने चली जाती थीं। आदिपर्व[६] में नारियों द्वारा

---

१. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४/५.

२. ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनंवेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति
—उद्धृत, काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग प्रथम, पृष्ठ २१९.

३. रामायण, २/२९/१३.

४. वही, ३/७३/२६; ३/७४/७.

५. वही, ३/७४/१०.

६. महाभारत, आदिपर्व, ३/७४/१०.

तपस्या करने का उल्लेख है। इस पर्व से यह मालूम होता है कि सत्यवती अपनी दो पुत्र-वधुओं के साथ तप करने वन में चली गई और तपस्या के द्वारा ही अपना शरीर त्यागा। इसी प्रकार आश्रमवासिक पर्व[1] में धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती द्वारा घोर तपस्या करने का उल्लेख है। मौसलपर्व[2] में उल्लेख है कि जब कृष्ण मृत्यु को प्राप्त हो गये तो उनकी सत्यभामा आदि पत्नियाँ वन में चली गयीं और कठिन तपस्या में लीन हो गयीं। इसी पर्व[3] में अक्रूर जी की पत्नियों के वन में जाने और वहाँ तपस्या करने का उल्लेख है।

महाभारत के शान्ति-पर्व[4] में सुलभा की कहानी भिक्षुणियों के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करती है। सुलभा चूँकि योग्य पति न पा सकी थी, अतः वह संन्यास-धर्म में दीक्षित हो गयी थी और इतस्ततः अकेली ही विचरण करती थी। वह जनक से मोक्ष-धर्म पर वार्तालाप करने आयी थी। उसने जनक को अध्यात्म से भरा हुआ सारगर्भित उपदेश दिया था। सुलभा के लिए "भिक्षुकी" शब्द का प्रयोग किया गया है (योग धर्ममनुष्ठिता महीमचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी) उसे "स्वधर्मेऽसिधृतव्रता" कहा गया है। राजा जनक ने उसे संन्यास-धर्म में दीक्षित ब्राह्मणी समझा था, लेकिन उसने अपना परिचय देते हुए बताया कि वह एक क्षत्रिय कन्या है। इस उदाहरण से दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं।[5] प्रथम तो यह कि स्त्रियाँ भी संन्यासिनी होती थीं और सम्भवतः यह एक प्राचीन परम्परा थी। दूसरे, संन्यास-धर्म में दीक्षित होने के लिए जाति-प्रथा बाधक नहीं थी। सुलभा के दृष्टान्त से पता चलता है कि ब्राह्मण स्त्रियाँ संन्यासिनी तो होती ही थीं जैसा कि जनक को शंका हुई थी। किन्तु क्षत्रिय कन्याएँ भी संन्यास-मार्ग का अनुसरण कर सकती थीं, क्योंकि स्वयं सुलभा ने अपने को क्षत्रिय कन्या बताया था।

इस प्रकार बृहदारण्यक् उपनिषद् की मैत्रेयी, रामायण की शबरी

---

१. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व, ३७ वां अध्याय.
२. वही, मौसलपर्व, ७/७४.
३. वही, मौसलपर्व, ७/७२.
४. वही, शान्तिपर्व, ३२०/७/१९३.
५. Contributions to the History of Brahmanical Ascet-icism, P. 63.

तथा महाभारत की सुलभा के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि नारियाँ संन्यास-मार्ग का अनुसरण करती थीं। इन नारियों ने या तो पति के संन्यास ग्रहण कर लेने पर या पति की मृत्यु के उपरान्त या योग्य पति न पा सकने के कारण संन्यास-मार्ग का अवलम्बन ग्रहण किया था। हम अगले पृष्ठों में देखेंगे कि जैन एवं बौद्ध धर्म के भिक्षुणी-संघ में नारियों के प्रवेश के कारणों में वैराग्य-भाव के साथ ही साथ ये भी मुख्य कारण थे। स्त्रियाँ स्वभावतः ही भावुक होती हैं, इन परिस्थितियों में वे अधिक भावप्रवर्ण हो जाती हैं और अन्ततोगत्वा वैराग्य का पथ चुन लेती हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना असङ्गत नहीं होगा कि महावीर एवं बुद्ध के पूर्व स्त्रियाँ संन्यास-मार्ग का अनुसरण करती थीं। इन ग्रन्थों में प्रायः संन्यासिनियों के अकेले ही रहने या विचरण करने का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में उनके किसी संघ के अस्तित्व की सूचना नहीं मिलती, परन्तु इन संन्यासिनियों के लिए कुछ व्रतों अथवा नियमों का विधान किया गया था, जैसा कि रामायण में शबरी को "संशितव्रताम्" कहा गया है। इन नियमों का क्रमशः विकास होता रहा। यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि इन्हीं व्रतों (नियमों) के आधार पर छठी शताब्दी ईसा पूर्व में महावीर एवं बुद्ध—दोनों ने अपने भिक्षुणी-संघों के लिए नियमों का प्रतिपादन किया।

जैन-धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना—

जैन-धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना का प्रश्न विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से परवर्ती जैन आगम ग्रन्थ समवायांग में निम्न २४ तीर्थंकरों का नामोल्लेख है[१]—ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, मल्ली, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान। परवर्ती ग्रन्थ कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरों में से चार तीर्थंकरों ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर का जीवन-चरित्र थोड़े विस्तार के साथ वर्णित है तथा इनकी भिक्षुणियों की संख्या का भी उल्लेख है और शेष (२ से २१ तक) २० तीर्थंकरों का मात्र उल्लेख है।

चाहे पार्श्व एवं महावीर के अतिरिक्त शेष २२ तीर्थंकरों की ऐति-

---

१. समवायांग, १५७.

हासिकता विवादास्पद हो किन्तु पार्श्वनाथ, जिन्हें २३ वाँ तीर्थंकर माना गया है, की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। प्राचीन जैन आगम सूत्रकृतांग[1] के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पार्श्व की परम्परा की समालोचना मिलती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पार्श्व की परम्परा महावीर से भिन्न थी। पार्श्व की परम्परा के भिक्षु एवं भिक्षुणियों को विधिवत् रूप से पंचमहाव्रत ग्रहण करवाकर महावीर के संघ में सम्मिलित करने का उल्लेख है।[2] अतः जैन-धर्म के अन्तर्गत महावीर के पूर्व भी भिक्षुणी-संघ की स्थापना हो चुकी थी-ऐसा स्पष्ट होता है।

जैन-धर्म में भिक्षु-संघ एवं भिक्षुणी-संघ की स्थापना साथ ही साथ हुई थी। इस बात की सत्यता इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि आचारांग जैसे प्राचीनतम ग्रंथों में भिक्षु एवं भिक्षुणियों के नियमों की व्यवस्था साथ-साथ की गयी है।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना—

बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती संघों के नियमों को ध्यान में रखकर भिक्षु एवं भिक्षुणी-संघ को काफी सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था। जैन भिक्षुणी-संघ के विपरीत बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना भिक्षु-संघ के साथ नहीं हुई थी, अपितु भिक्षु-संघ की स्थापना के पश्चात् ही हुई, यद्यपि इसकी तिथि विवादास्पद है। वैशाली के कूटागारशाला में शंकित मन से बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में दीक्षित करने का निर्णय लिया और वहीं भिक्षुणी-संघ की स्थापना की।[3] सामान्य अवधारणा यह थी कि बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना, बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति एवं भिक्षु-संघ की स्थापना के ५ वर्ष बाद हुई। भिक्षुणी-संघ की स्थापना में स्थविर आनन्द का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान था, मुख्यतः उन्हीं के प्रयास के कारण भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई थी, अन्यथा बुद्ध तो महाप्रजापति गौतमी को स्पष्ट रूप से मना कर चुके थे। चुल्लवग्ग के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय तक आनन्द बुद्ध के स्थायी सेवक के रूप में नियुक्त हो चुके थे। परन्तु अन्य स्रोतों के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के २० वें वर्ष तक बुद्ध

---

१. सूत्रकृतांग, २।७।७१-८०.
२. उत्तराध्ययन, २३/८७.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३७१; भिक्षुणी विनय, § ५.

का कोई स्थायी सेवक नियुक्त नहीं हुआ था। समय-समय पर नागसमाल, नागित, राध, मेघिय आदि भिक्षु उनकी सेवा में रहे थे। इन भिक्षुओं के व्यवहार से बुद्ध सन्तुष्ट नहीं थे, क्योंकि ये कभी-कभी उनकी आज्ञा के विरुद्ध भी काम करते थे। नागसमाल क्रोध में बुद्ध के वस्त्र तथा पात्र को चौराहे पर रखकर चला गया था।[१] अतः प्रव्रज्या के २० वें वर्ष में अपने गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर बुद्ध ने एक स्थायी सेवक की इच्छा व्यक्त की। आनन्द यद्यपि बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति के दूसरे वर्ष ही बौद्ध धर्म की शरण में आ चुके थे, परन्तु बुद्ध के स्थायी सेवक के रूप में उनकी नियुक्ति २०वें वर्ष में हुई।[२] आनन्द स्वयं कहते हैं कि वे २५ वर्ष तक बुद्ध की सेवा में रहे।[३] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति के ५वें वर्ष में न होकर २०वें वर्ष में अथवा उसके पश्चात् वैशाली में ही हुई होगी, जब आनन्द बुद्ध के स्थायी सेवक के रूप में नियुक्त हो चुके थे।

बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना का श्रेय गौतम बुद्ध की क्षीरदायिका माता एवं मौसी महाप्रजापति गौतमी को है।[४] महाप्रजापति गौतमी ने दो बार संघ में प्रवेश करने का प्रयत्न किया था। प्रथम बार में वह असफल रही। जब बुद्ध कपिलवस्तु के न्योग्रोधाराम में ठहरे हुये थे, गौतमी ने उनसे प्रव्रज्या प्रदान करने का निवेदन किया। परन्तु उस समय बुद्ध ने स्त्रियों को बौद्ध-संघ में प्रव्रज्या देना एकदम से अस्वीकार कर दिया।[५]

१. उदान, अट्ठकथा, ८/७.

२. Life of Buddha as Legend and History, P. 122-23.
Pali Proper Names, Vol. I, P. 250-51

३. "पण्णवीसति वस्सानि सेखभूतस्स मे सतो
न कामसञ्ञा उप्पज्जि, पस्स धम्मसुधम्मतं
—थेरगाथा, श्लोक संख्या, १०३९.

४. Women Under Primitive Buddhism, P. १२० में लेखिका ने यह सम्भावना प्रकट की है कि महाप्रजापति गौतमी के पहले यशोधरा (राहुलमाता, जो बुद्ध की पत्नी थी) भिक्षुणी बनी। परन्तु यह सम्भावना उचित नहीं जान पड़ती। मनोरथपूरणि (अंगुत्तर निकाय की टीका) के अनुसार राहुलमाता ने महाप्रजापति के निश्रय में प्रव्रज्या ग्रहण की थी।
See—Pali Proper Names, Vol. II, P. 743.

५. चुल्लवग्ग, पृ० ३७३; भिक्षुणी विनय, §३.

गौतमी इससे निराश नहीं हुई और उसने प्रव्रज्या पाने का अपना प्रयास जारी रखा। जब बुद्ध वैशाली के महावन की कूटागारशाला में ठहरे हुये थे, गौतमी फिर वहाँ पहुँची। इस बार उसने अपनी वेश-भूषा बदल डाली थी। उसने अपने बालों को कटाकर काषाय वस्त्र धारण कर लिया था। वह कपिलवस्तु से वैशाली तक पैदल गयी थी। इस बार का उसका आचरण बिल्कुल भिक्षुणियों जैसा था। सम्भवतः इसके माध्यम से वह स्त्रियों के प्रति बुद्ध की शंका को मिटाना चाहती थी तथा यह प्रमाणित करना चाहती थी कि पूर्ववत् जीवन में सुख-सुविधाओं का उपभोग करने के बावजूद उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्त्रियाँ भी कठोर जीवन का पालन कर सकती हैं। कूटागारशाला में गौतमी फूले पैरों, धूलभरे शरीर एवं अश्रुमुखी हो द्वार-कोष्ठक के बाहर जा खड़ी हुई।[1]

गौतमी की यहीं पर आनन्द से भेंट हुई। आनन्द ने स्वयं बुद्ध के पास जाकर स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने की प्रार्थना की। किन्तु प्रथम तो उनका भी यह श्लाघनीय प्रयास असफल रहा। आनन्द ने बुद्ध से तीन बार प्रार्थना की और तीनों बार बुद्ध ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। तब आनन्द ने दूसरे प्रकार से प्रव्रज्या की अनुज्ञा माँगने की सोची। उन्होंने बुद्ध से प्रश्न किया कि क्या तथागत प्रवेदित धर्म में स्त्रियाँ सोतापत्तिफल, सकृदागामिफल, अनागामिफल, एवं अर्हत्व को प्राप्त कर सकती हैं? बुद्ध ने सकारात्मक रूप से सिर हिलाया। तब आनन्द ने चतुराईपूर्वक अपनी बात पर बल देते हुए कहा कि भगवन्! यदि स्त्रियाँ अर्हत्वफल को प्राप्त कर सकती हैं तो महाप्रजापति गौतमी को, जो आप की मौसी, अभिभाविका, पोषिका, क्षीरदायिका रही हैं— जननी की मृत्यु के बाद भगवान् को दूध पिलाया है, प्रव्रज्या मिलनी चाहिए।[2]

बुद्ध आनन्द के तर्क से चुप हो गये तथा स्त्रियों को बौद्ध-संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी। परन्तु गौतमी तथा अन्य स्त्रियों को प्रव्रज्या का निर्देश देने के पहले उन्होंने आठ शर्तों के पालन का बन्धन रखा,

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७३; भिक्षुणी विनय, §५.
(भिक्षुणी विनय में श्रावस्ती के जेतवन आराम में बुद्ध के ठहरने का उल्लेख है)

२. चुल्लवग्ग, पृ० ३७४; भिक्षुणी विनय, §१०.

जिन्हें अट्ठगुरुधम्म (अष्ट गुरुधर्म) कहा गया है।[१] ये अष्टगुरुधर्म निम्न थे।

१ "सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को सद्यः उपसम्पन्न भिक्षु का अभिवादन करना चाहिए, उसके सम्मान में खड़ा होना चाहिए तथा अञ्जलि जोड़ना चाहिए और समीचीकर्म (कुशल समाचार) पूछना चाहिए।[१]" भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म प्रथम.

२ "वर्षाकाल में भिक्षुरहित ग्राम या नगर में किसी भी भिक्षुणी को वर्षावास नहीं करना चाहिए"—भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म सप्तम.

३ "प्रति १५ दिन बाद भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से उपोसथ और धर्मोपदेश (उवाद) की तिथि पूछनी चाहिए"—भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म षष्ठ.

४ "वर्षाकाल के बीत जाने पर प्रत्येक भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष दृष्ट, श्रुत एवं परिशंकित दोषों की प्रवारणा करनी चाहिए" —भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म अष्टम.

५ "गम्भीर दोष करने पर भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष पक्ष-मानत्त करना चाहिए"—भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म पञ्चम.

६ "दो वर्ष में षड्धर्मों को सीखने वाली शिक्षमाणा को दोनों संघों से उपसम्पदा प्राप्त करनी चाहिए।"—भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म द्वितीय.

७ "किसी भी भिक्षुणी को किसी भिक्षु के प्रति अभद्र शब्द नहीं बोलना चाहिए"।[२]

८ "किसी भी भिक्षुणी को किसी भिक्षु को उपदेश नहीं देना चाहिए" —भिक्षुणी विनय, गुरुधर्म तृतीय.

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७४-७५
(भिक्षुणी विनय में अष्टगुरुधर्म नियम का प्रतिपादन करने के पहले जीवनपर्यन्त पाँच बातों से विरत रहने का उल्लेख है। (१) हिंसा से विरत रहना। (२) अदत्तादान (बिना दिये कोई वस्तु न लेना) से विरत रहना। (३) काम-सम्बन्धी कार्यों से विरत रहना। (४) झूठ बोलने से विरत रहना। (५) सुरा-मद्य के सेवन से विरत रहना।—भिक्षुणी विनय, §१३.

२. चुल्लवग्ग का यह ७वाँ गुरुधर्म महासांघिकों के भिक्षुणी विनय में नहीं मिलता। इसकी जगह उनका चौथा गुरुधर्म निम्न है—भक्ताग्रं शय्यनासनं विहारो च भिक्षुणीहि भिक्षुतो भिक्षुसंघातो सादयितव्यम्।

इन अष्टगुरुधर्मों को प्रजापति ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह समाचार जब आनन्द से बुद्ध को मिला, तब भी उन्होंने कहने में संकोच नहीं किया कि "आनन्द ! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-नियम में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं तो यह धर्म चिरस्थायी होता, यह सहस्र वर्ष ठहरता। परन्तु आनन्द ! स्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की, अतः ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न रहेगा और यह सद्धर्म ५०० वर्ष ही ठहरेगा।"[1]

भिक्षुणी-संघ के लिए इन अष्टगुरुधर्मों की आवश्यकता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने चार लौकिक उदाहरण दिये :—

(१) जैसे वह परिवार चोरों द्वारा आसानी से नष्ट कर दिया जाता है, जिसमें स्त्रियाँ अधिक हों तथा पुरुष कम।
(२) जैसे पके हुए धान के खेत में सफेदा (सेतट्ठिका) रोग लग जाने से वह खेत नष्ट हो जाता है।
(३) जैसे तैयार ईख के खेत में मञ्जिट्ठिका (एक प्रकार का लाल रोग) रोग लग जाने से वह नाश को प्राप्त हो जाता है।
(४) जैसे मनुष्य पानी के रोकथाम के लिए मेंड़ (आली) बाँधता है, उसी प्रकार मैंने (बुद्ध ने) अतिचारों की रोकथाम के लिए भिक्षुणियों के यावज्जीवन अतिक्रमण न करने योग्य अष्टगुरुधर्मों को प्रतिष्ठापित किया है।[2]

बुद्ध के द्वारा दिये गये ये चारों उदाहरण प्रतीकात्मक थे। बौद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश से भिक्षुओं के ब्रह्मचर्य के स्खलित होने का भय था। धान के खेत में सेतट्ठिका तथा ईख के खेत में मञ्जिट्ठिका रोग संन्यास-जीवन में दोषों के ही प्रतीक थे।

उपर्युक्त उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश से उत्पन्न होनेवाली कठिनाइयों के प्रति चिन्तित थे। इसीलिए उन्होंने भिक्षुणियों के लिए अष्टगुरुधर्म की मर्यादा बतायी थी। यह यावज्जीवन पालनीय धर्म था, जिसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता था।

कुछ भी हो, बौद्ध धर्म के संघ में स्त्रियों को प्रवेश का अधिकार दिलाकर आनन्द ने अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया। अपने इस क्रान्तिकारी कार्य के कारण आनन्द हमेशा याद रखे गये। राजगृह की प्रथम

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७६-७७. ; भिक्षुणी विनय, § १२.
२. चुल्लवग्ग, पृ० ३७७; भिक्षुणी विनय, § ९.

बौद्ध-संगीति में अपने इस क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण आनन्द को दुक्कट के दण्ड का दोषी भी बताया गया था।[१] परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भिक्षुणियों की आने वाली पीढ़ियों ने उन्हें हमेशा आदर की दृष्टि से देखा। चतुर्थ शताब्दी ईसवी में चीनी यात्री फाहियान ने मथुरा में आनन्द की स्मृति में निर्मित एक स्तम्भ के प्रति भिक्षुणियों को सम्मान प्रदर्शित करते हुए देखा था।[२] उसके इस कथन की पुष्टि उसके लगभग २०० वर्ष बाद आने वाले यात्री ह्वेनसांग ने भी की है।[३]

तुलना

यहाँ दोनों भिक्षुणी संघों की स्थापना के सम्बन्ध में अन्तर द्रष्टव्य है बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना इस धर्म के संस्थापक के विचारों के विपरोत तथा आशंकाओं के साथ हुई थी, जबकि जैन धर्म में स्त्रियों के संघ-प्रवेश को किसी आशंका की दृष्टि से नहीं देखा गया और न ही बौद्ध भिक्षुणी महाप्रजापति गौतमी की तरह किसी विशेष नारी को जैन भिक्षुणी-संघ की स्थापना के लिए बार-बार अनुनय-विनय ही करना पड़ा। प्रारम्भ से ही जैन संघ के द्वार स्त्रियों के लिए पूरी तरह से खुले हुये थे और वे निस्संकोच उसमें प्रवेश कर सकती थीं।

जैन-संघ में भिक्षुणी बनने के कारण

समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों ने दोनों भिक्षुणी संघों में प्रवेश लिया था। उनकी इस प्रकार की अनुकूल प्रतिक्रिया के आध्यात्मिक कारणों के साथ-साथ अनेक सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक कारण थे।

स्थानांग तथा उसकी टीका में ऐसे दस[४] सामान्य कारणों का उल्लेख है, जिनसे लोग दीक्षा ग्रहण करते थे :—

१. छन्दा (स्वेच्छा से)—महावीर के साथ शास्त्रार्थ के लिए आए हुए गौतम आदि के समान।
२. रोसा (आवेश से)—शिवभूति के समान।
३. परिजुण्णा (दरिद्रता से)—काष्ठहारक के समान।

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ४११.
२. Buddhist Record of the Western World, (Beal, S.) Vol, I. P. 22.
३. Ibid, Vol, II, P. 213.
४. स्थानांग, १०/७१२, टीका, भाग पांच, पृ० ३६५-६६.

४. सुविणा (स्वप्न से)—पुष्पचूला के समान।
५. पडिस्सुया (प्रतिज्ञा लेने से)—धन्य के समान।
६. सारणिया (स्मरण से)—तीर्थंकर मल्ली के समान।
७. रोगिणिया (रोग होने से)—सनत्कुमार के समान।
८. अणाढिया (अनादर से)—नन्दिषेण के समान।
९. देवसण्णत्तो (देवता के उपदेश से)—मेतार्य के समान।
१०. वोच्छाणुबंधिया (पुत्र-स्नेह से)—वैरस्वामी की माता के समान।

उपर्युक्त १० कारणों के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी लोग प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। यथा—कुछ लोग बिना मेहनत किए उत्तम भोजनादि की प्राप्ति (इहलोगपडिबद्धा) तथा स्वर्ग लोक में सुख की इच्छा से प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। कुछ लोग सद्गुरुओं की सेवा के लिए (उवायपवज्जा) प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, तो कुछ लोग ऋण से मुक्ति पाने के लिए भी (मोयावइत्ता) प्रव्रज्या ले लेते थे। कुछ लोग एक दूसरे को देखा-देखी अर्थात् एक के दीक्षा ले लेने पर दूसरा भी दीक्षा ले लेता था (संगारपव्वज्जा)[1]।

इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे कारण थे, जिनके फलस्वरूप स्त्रियाँ प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती थीं। सामान्यतया पति की मृत्यु अथवा उसके प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर पत्नियाँ भी प्रव्रजित हो जाती थीं। उत्तराध्ययन सूत्र में राजीमती[2] और वाशिष्ठी[3] के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। राजीमती ने यह समाचार पाकर कि उसके भावी पति भिक्षु हो गये है, भिक्षुणी बनने का निश्चय कर लिया। वाशिष्ठी ने भी अपने पति और पुत्रों को प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए देखकर संसार का त्याग किया था। कुछ नारियां पति की मृत्यु या पति की हत्या कर दिये जाने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं क्योंकि उस सामाजिक परिवेश में उन्हें उतनी सुरक्षा नहीं प्राप्त हो पाती थी, जितनी अपेक्षित थी। यही कारण था कि गर्भावस्था में भी वे संघ-प्रवेश हेतु प्रार्थना करती थीं। मदनरेखा[4] के पति को उसके सहोदर भ्राता ने मार डाला। उस समय वह गर्भवती थी परन्तु भयभीत होकर जंगल में भाग गई और मिथिला

१. स्थानांग, ३।१५७.
२. उत्तराध्ययन, २२ वाँ अध्याय।
३. वही, १४ वाँ अध्याय।
४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० १३६-४०.

में जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार का उदाहरण यशभद्रा[१] का है, जिसके पति के ऊपर उसके ज्येष्ठ भ्राता ने आक्रमण किया था। वह भी भयभीत होकर श्रावस्ती के जंगल में भाग गई और वहीं उसने संघ में दीक्षा ग्रहण की। बाद में उसका पुत्र क्षुल्लककुमार उत्पन्न हुआ, जो भिक्षु बना। करकण्डु जो रानी पद्मावती[२] का पुत्र था, पद्मावती के प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् पैदा हुआ था। जैन अनुश्रुति के अनुसार बाद में वह कलिंग का राजा हुआ।

इसी प्रकार भाई के साथ बहनों के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। भिक्षुणी उत्तरा[३] ने जो आचार्य शिवभूति की बहन थी, भाई का अनुसरण करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की थी। बाल-विधवा धनश्री[४] ने भी अपने भाई के साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण की थी। भिक्षु स्थूलभद्र की सात बहनें थीं—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, रेणा। सातों बहनों[५] ने अपने भाई को प्रव्रज्या ग्रहण करते हुए देखकर जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था। ज्ञाताधर्मकथा में पोट्टिला[६] तथा सुकुमालिका[७] का उदाहरण मिलता है, जिन्होंने अपने प्रति पति के प्रेम में कमी होने के कारण प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया नारियाँ अपने संरक्षक (पति, पुत्र, भाई अथवा अन्य कोई) की मृत्यु या उसके प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के उपरान्त स्वयं भी प्रव्रजित हो जाती थीं। अन्तकृत-दशांग में उल्लिखित काली-सुकाली[८] आदि के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

इसके अतिरिक्त बहुत-सी स्त्रियाँ विद्वान् साधुओं के धर्मोपदेश को सुनकर संन्यास-जीवन का आश्रय ग्रहण करती थीं। अंतकृतदशाङ्ग में जाम्बकुमार की पत्नियों तथा कृष्ण-वासुदेव की पत्नियों[९] का उल्लेख

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, १२८३; बृहत्कल्पभाष्य, पंचम भाग, ५०९९.

२. आवश्यक चूर्णि, द्वितीय भाग, पृ० २०४-०७.

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० १८१.

४. आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० ५२६-२७.

५. आवश्यक चूर्णि, द्वितीय भाग, पृ० १८३, कल्पसूत्र, २०८.

६. ज्ञाताधर्मकथा, १।१४.

७. वही, १।१६.

८. अन्तकृतदशांग, आठवाँ वर्ग।

९. वही, पंचम वर्ग।

मिलता है, जिन्होंने अरिष्टनेमि के उपदेश से प्रभावित होकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी। केवल धनी तथा उच्च वर्ग की स्त्रियों ने ही नहीं बल्कि नर्तकियों तथा वेश्याओं ने भी भिक्षुणियों के कठोर जीवन का आदर्श ग्रहण किया था। उत्तराध्ययन टीका[1] में गणिका कोशा का नाम मिलता है, जिसने स्थूलभद्र नामक विद्वान् भिक्षु के सम्पर्क में आकर भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था। इसी प्रकार अत्यधिक सुन्दरता के कारण मल्लि-कुमारी, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार १९वाँ तीर्थंकर माना गया है, से विवाह के लिए अनेक राजा लालायित हो उठे थे। किन्तु उसने उन सभी राजाओं को उद्बोधित कर वैराग्य का पथिक बना दिया। मल्लि को पकते हुए भोजन के जल जाने पर स्वतः ही संसार की नश्वरता का बोध हुआ था। अतः कहा जा सकता है कि नारियाँ कभी परिस्थितिवश और कभी उपदेश या स्वप्रेरित वैराग्य से प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं।

बौद्ध-संघ में भिक्षुणी बनने के कारण

जैन भिक्षुणी-संघ में स्त्रियों के प्रव्रजित होने के जो कारण थे लगभग वे ही कारण बौद्ध भिक्षुणी-संघ के सन्दर्भ में सत्य प्रतीत होते हैं।

थेरी गाथा में उल्लेख है कि पटाचारा के उद्योग से ५०० स्त्रियों ने भिक्षुणी बनकर उसका शिष्यत्व ग्रहण किया था। इन सभी को सन्तान-वियोग का दुःख सहन करना पड़ा था। इसी प्रकार वाशिष्ठी[2] तथा कृशा गौतमी को[3] पुत्र-वियोग के कारण तथा सुन्दरी को अपने छोटे भाई की मृत्यु के कारण संसार से वैराग्य उत्पन्न हुआ था और इन सभी ने बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश ले लिया था। कुछ स्त्रियों ने अपने प्रिय सखियों की मृत्यु से दुःखी होकर प्रव्रज्या ग्रहण की थी। श्यामा[4] कौशाम्बी-नरेश उदयन की पत्नी श्यामावती की प्रिय सखी थी। श्यामावती की मृत्यु के बाद श्यामा ने बौद्ध-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। उब्बिरी[5] ने जो अपनी एकमात्र कन्या की मृत्यु हो जाने से दुःखी थी, बुद्ध के उपदेश को सुनकर बौद्ध-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

---

१. उत्तराध्ययन टीका, द्वितीय भाग, पृ० २९-३०।

२. थेरीगाथा, परमत्थदीपनी टीका, ५१.

३. वही, ६३.

४. वही, २८, २९.

५. वही, ३३.

स्त्रियाँ पति के प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर स्वयं भी प्रव्रजित हो जाती थीं। धम्मदिन्ना[१] ऐसी ही भिक्षुणी थी, जिसने पति के प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था। कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी थीं जो पति के जीवित अवस्था में उसकी आज्ञा न मिलने के कारण संघ में प्रवेश नहीं ले सकी थीं—किन्तु पति की मृत्यु के तुरन्त बाद उन्होंने संघ में प्रव्रज्या ग्रहण की थी। धम्मदिन्ना[२] ऐसी ही एक कुलीन कन्या थी। इसी प्रकार सुदिन्निका[३] ने पति की मृत्यु के बाद अपने देवर (पति के अनुज) के कलुषित विचारों को समझ कर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

कुछ स्त्रियों ने प्रेम में असफल होने पर बौद्ध भिक्षुणी संघ में प्रवेश लिया था। कुण्डलकेशा[४] ऐसो ही राजगृह के सेठ की लड़की थी, जिसने अपने प्रेमी से धोखा खाने पर सर्वप्रथम जैन भिक्षुणी-संघ में तत्पश्चात् बौद्ध भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया था। पटाचारा[५] ने जो अपने नौकर के प्रेम में फंसकर भाग गई थी, माता-पिता, भाई आदि की मृत्यु के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण को थी।

अत्यधिक सुन्दरता अथवा अत्यधिक कुरूपता के कारण जिन स्त्रियों का विवाह नहीं हो पाता था, वे भिक्षुणी बनने का प्रयत्न करती थीं। सुन्दर कन्या को प्राप्त करने के लिए अनेक पुरुष इच्छुक होते थे, अतः लड़की के माता-पिता को इस परिस्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता था कि वह लड़की को किस विशेष पुरुष को दें। अन्त में विवश होकर माता-पिता कन्या को भिक्षुणी बनने का आदेश दे देते थे। सुन्दरी उत्पलवर्णा[६] श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष की कन्या थी। उससे विवाह करने के लिए अनेक राजकुमार तथा श्रेष्ठि-पुत्र लालायित थे। अतः विवाह करने के लिए सबको सन्तुष्ट करने में अपने को असमर्थ पाकर उसके पिता ने उत्पलवर्णा को भिक्षुणी बनने का आदेश दिया था। अम्बपाली[७] को अतिशय सुन्दरी होने के कारण ही नगर-सुन्दरी बनना पड़ा था।

---

१. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, १२.

२. वही, १७.

३. भिक्षुणी विनय § १५८.

४. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, ४६.

५. वही, ४७.

६. वही, ६४.

७, वही, ६६.

अपने अन्तिम दिनों में बुद्ध को भोजन का निमन्त्रण देकर तथा अपने पुत्र विमल कौण्डन्य के उपदेश से प्रभावित होकर अम्बपाली ने भिक्षुणी-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण की थी। अभिरूपा नन्दा[1] कपिलवस्तु को ऐसी ही क्षत्रिय-कन्या थी जिसको अपने रूप पर अत्यधिक गर्व था परन्तु विवाह के पूर्व ही भावी पति की मृत्यु हो जाने के कारण उसके माता-पिता ने उसे भिक्षुणी बनने हेतु उपदेश दिया था।

बहुत सी स्त्रियाँ किसी भिक्षु या भिक्षुणी के उपदेश से प्रभावित होकर अथवा किसी प्रतीकात्मक घटना का आध्यात्मिक अर्थ लगाकर भिक्षुणी-संघ में प्रव्रजित होती थीं। थेरी गाथा[2] में एक अज्ञातनामा भिक्षुणी का ऐसा ही उल्लेख है, जिसकी महाप्रजापति गौतमी के उपदेश को सुनकर तथा अधिक आँच से पाकशाला में सब्जी जल जाने के कारण संन्यास-धर्म में रुचि उत्पन्न हुई थी, क्योंकि इस घटना से उसे संसार की सारी वस्तुओं की अनित्यता का बोध हुआ था। थेरी गाथा में वर्णित तिष्या[3] धीरा[4], मित्रा[5], भद्रा[6], उपशमा आदि ऐसी स्त्रियाँ थीं जिनकी प्रव्रज्या गौतमी के साथ हुई थी। विमला[7] को, जो वैशाली के एक वेश्या की कन्या थी, महामौद्गल्यायन् के धर्मोपदेश को सुनकर लज्जा एवं ग्लानि की भावना उत्पन्न हुई और कुछ समय बाद उसने बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में वेश्याएँ भी प्रवेश लेती थीं। ये वेश्याएँ किसी भिक्षु या भिक्षुणी के उपदेश को सुनकर अत्यन्त प्रभावित हो जाती थीं तथा प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती थीं। अड्ढकाशी[8] वाराणसी की एक ऐसी वेश्या थी, जिसने बुद्ध के उपदेश से प्रभावित होकर अन्य वेश्याओं द्वारा अवरोध उपस्थित किए जाने पर भी प्रव्रजित होने के अपने दृढ़ निश्चय

---

१. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, १९.
२. वही, १.
३. वही, ४,५.
४. वही, ६,७.
५. वही, ८.
६. वही, ९,१०.
७. वही, ३९.
८. वही, २२.

का परित्याग नहीं किया और दूती भेजकर भिक्षु-संघ से उपसम्पदा की अनुमति प्राप्त की थी ।[1]

दासी-पुत्रियों के भी संघ में प्रवेश करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। पूर्णिका[2] श्रावस्ती के सेठ अनाथपिण्डक के घर की दासी की पुत्री थी। पूर्णिका की बौद्ध धर्म में श्रद्धा देखकर सेठ ने उसे दासत्व के भार से मुक्त कर दिया। उन्हीं सेठ की अनुमति लेकर वह भिक्षुणी-संघ में प्रविष्ट हुई। इसके अतिरिक्त कुछ नितान्त व्यक्तिगत कारण भी होते थे जिससे स्त्रियाँ भिक्षुणी-संघ में प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं। सोखा[3] ने अपने पुत्र एवं बहुओं के निरादर के कारण गृह-त्याग कर बौद्ध संघ में शरण ली थी। ऋषिदासी[4] को अपने पति के घर से निकाल दिया गया था, जिससे विवश होकर उसने बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था। मुक्ता[5] ने कुबड़े पति के कारण गृह-त्याग किया था क्योंकि पति की शारीरिक रचना उसके मन के अनुकूल नहीं थी।

तुलना--इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों भिक्षुणी-संघों में स्त्रियों के प्रवेश करने के लगभग समान कारण थे। पति, पुत्र, पुत्री, भाई अथवा स्नेही-जनों की मृत्यु के कारण उनमें संसार के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाती थी। पति की मृत्यु अथवा उसके प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के उपरान्त संघ में प्रवेश के जो अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं उनसे यह निश्चित रूप से आभास होता है कि उस समय पति-विहीन नारियों को समाज में अपेक्षित स्थान प्राप्त नहीं था। विवाह-संस्था एवं एकपत्नीनिष्ठा, जो सामाजिक जीवन में व्यवस्था को बनाये रखने का एक मुख्य आधार थी, वह पुरुषवर्ग की भोगलिप्सा के कारण अत्यन्त जर्जरित हो गई थी। इसके फलस्वरूप स्त्रियों का वैवाहिक जीवन अभिशप्त हो जाता था। इन सभी स्त्रियों के लिए संघ एक आश्रयस्थल सिद्ध होता था जहाँ जाकर वे सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती थीं और साथ ही आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त कर सकती थीं। कुछ स्त्रियाँ,

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९७-९९.
२. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, ६५.
३. वही, ४५.
४. वही, ७७.
५. वही, ११.

निस्सन्देह, ज्ञानप्राप्ति तथा आध्यात्मिक भावना से प्रेरित होकर प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं। वे बचपन से ही धार्मिक तथा श्रद्धालु होती थीं। वे आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर पूर्ण पवित्रता का जीवन व्यतीत करती थीं। जैन भिक्षुणी-संघ में ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना, सुव्रता तथा बौद्ध भिक्षुणी-संघ में सुमेधा, अनुपमा, गुप्ता आदि इसी प्रकार की भिक्षुणियाँ थीं जिनका पूरा जीवन विद्या के प्रति समर्पित था।

भिक्षुणी-संघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यताएँ

जैन और बौद्ध दोनों संघों में जाति, वर्ण, धर्म, रंग, रूप, लिंग का ख्याल किये बिना प्रत्येक स्त्री-पुरुष को प्रवेश की अनुमति थी तथापि संघ के संघटन को सुचारू रूप से चलाने के लिए एवं संघ की प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए प्रवेश सम्बन्धी कुछ नियमों का निर्माण किया गया था जिनके आधार पर अवांछित तत्वों को संघ-प्रवेश से रोका जा सके।

जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यता : स्थानांग एवं उसकी टीका[1] में कुछ ऐसी अयोग्यताओं का उल्लेख है, जिनके आधार पर किसी स्त्री या पुरुष को संघ में प्रवेश देने से वञ्चित किया जा सकता था।

(क) बाले (बालक, जो आठ वर्ष से कम हो)
(ख) बुड्ढे (वृद्ध)
(ग) नपुंस (नपुंसक)
(घ) जड्डे (अति मूर्ख)
(ङ) कीवे (क्लीव)
(च) वाहिए (रोगी व्यक्ति)
(छ) तेणे (चोर या डाकू)
(ज) रायावगारी (राजा का अपकार करने वाला)
(झ) उम्मत्ते (उन्मत्त)
(ञ) अदंसणे (अन्धा)
(ट) दास
(ठ) दुट्ठ (दुष्ट)
(ड) मूढ (मूर्ख)
(ढ) अणत्त (ऋणी)
(ण) जुंगिय (अंगहीन)

१. स्थानांग, ३/२०२; टीका पृ० १५४-५५.

(त) ओबद्ध (बंधक)
(थ) भयए (नौकर)
(द) सेहनिप्फोडिय (अपहृत)
(ध) गुव्विणी (गर्भिणी)
(न) बालवच्छा (छोटे बच्चे वाली स्त्री)

इसके अतिरिक्त ऐसी स्त्रियों को प्रवेश नहीं दिया जाता था जिन्हें अपने संरक्षक (पिता-माता, पति अथवा पुत्र) की अनुज्ञा न मिली हो।

संघ-प्रवेश के समय उपर्युक्त नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता था फिर भी अपवादस्वरूप इन नियमों के उल्लंघन के उल्लेख प्राप्त होते हैं। निरयावलिसूत्र[1] में सुभद्रा का उल्लेख है जिसने अपने पति के आज्ञा के विरुद्ध दीक्षा ग्रहण की थी। स्थानांग के अनुसार गर्भिणी स्त्री संघ-प्रवेश की अधिकारिणी नहीं थी, फिर भी जैनग्रन्थों में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख है जिन्होंने गर्भावस्था में दीक्षा ग्रहण की थी। मदनरेखा[2] दीक्षा ग्रहण करने के समय गर्भवती थी क्योंकि उस समय अपने पति की हत्या कर दिये जाने के कारण वह जंगल में भाग गई थी और वहीं उसने दीक्षा ली थी। पद्मावती[3] का पुत्र करकण्डु तथा यशभद्रा[4] का पुत्र क्षुल्लक कुमार दीक्षा ग्रहण करने के बाद ही उत्पन्न हुए थे। केसी एक भिक्षुणी[5] का ऐसा पुत्र था जो बृहत्कल्पभाष्यकार के अनुसार बिना पुरुष के संसर्ग के ही उसके गर्भ में आ गया था और दीक्षा के उपरान्त पैदा हुआ था। इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि परिस्थितियों के अनुसार नियमों में कुछ परिवर्तन कर दिया जाता था।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यता : यह प्रयत्न किया जाता था कि शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से विकृत नारियाँ संघ में प्रवेश न ले सकें। रोगिणी तथा ऋणग्रस्त नारी का संघ-प्रवेश निषिद्ध था। अयोग्य नारियों के निवारण हेतु ही प्रवेश के समय बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रश्न पूछने की परम्परा थी तथा प्रश्नों की कसौटी पर खरा उतरने पर ही उन्हें उपसम्पदा प्रदान की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध

---

१. निरयावलिसूत्र, तीसरा वर्ग।
२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० १३६-४०.
३. आवश्यक चूर्णि, भाग द्वितीय, पृ० २०४-७.
४. आवश्यक निर्युक्ति, १२८३.
५. बृहत्कल्प भाष्य, भाग चतुर्थ, ४१३७.

भिक्षुणी-संघ में जब भिक्षुणियों की संख्या में वृद्धि होने लगी तभी प्रश्न पूछने की परम्परा शुरू की गई तथा उसी समय प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा में भी भेद कर दिया गया। क्योंकि भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय महाप्रजापति गौतमी तथा उसके साथ की नारियों को बिना प्रश्न पूछे ही संघ में सम्मिलित कर लिया गया था। प्रश्नों के मुख्य विषय शरीर सम्बन्धी होते थे। इन प्रश्नों को अन्तरायिक धर्म कहा गया है जो निम्न है :—

१. वह अनिमित्ता अर्थात् स्त्री-चिह्न से रहित तो नहीं है ?
२. वह निमित्तामत्ता अर्थात् निमित्त मात्र स्त्री-चिह्न तो नहीं है ?
३. वह अलोहिता अर्थात् मासिक-धर्म से रहित तो नहीं है ?
४. वह ध्रुवलोहिता तथा ध्रुवचोला अर्थात् मासिक-धर्म से पीड़ित तो नहीं है ?
५. वह पग्घरन्ती (मासिक-धर्म सम्बन्धी रोग) से पीड़ित तो नहीं है ?
६. वह शिखरिणी तो नहीं है ?
७. वह इत्थिपण्डक (स्त्री-नपुंसक) तो नहीं है ?
८. वह वेपुरिसिका (पुरुषोचित-व्यवहार) वाली तो नहीं है ?
९. वह उभतोव्यञ्जना अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त तो नहीं है ?
१०. उसे कुट्ठं (कोढ़) का रोग तो नहीं है ?
११. उसे गण्ड (फोड़ा) का रोग तो नहीं है ?
१२. उसे किलास (एक प्रकार का चर्मरोग) तो नहीं है ?
१३. उसे सोस (शोथ) का रोग तो नहीं है ?
१४. उसे अपमार (मृगी) का रोग तो नहीं है ?
१५. क्या वह मनुष्य (मनुस्स) है ?
१६. क्या वह स्त्री (इत्थि) है ?
१७. क्या वह स्वतन्त्र है ?
१८. क्या वह ऋणी है ?
१९. वह राजभटी अर्थात् राजा की सेवा में लगी सैनिक-स्त्री तो नहीं है ?
२०. क्या उसे माता-पिता या पति ने भिक्षुणी बनने की अनुमति दे दी है ?

२१. क्या वह पूरे बीस वर्ष की है ?
२२. क्या उसके पास पात्र तथा चीवर पर्याप्त मात्रा में हैं ?
२३. उसका क्या नाम है ?
२४. उसकी प्रवर्तिनी का क्या नाम है ?[1]

महासांघिक निकाय के भिक्षुणी विनय[2] में भी इसी प्रकार के प्रश्नों का उल्लेख है। इन प्रश्नों को उपसम्पदा के समय शिक्षमाणा से पूछने की परम्परा थी। प्रश्न उपर्युक्त रीति से ही पूछे जाते थे यद्यपि उनकी रूप-रेखा कुछ भिन्न थी। भिक्षुणी विनय में कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो थेर-वादी निकाय के चुल्लवग्ग में नहीं प्राप्त होते। यथा—क्या वह मातृघातिनी है? क्या वह पितृघातिनी है? क्या वह अर्हत्घातिनी है? संघ-भेदिका है? उसे यह संशय तो नहीं है कि बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया या नहीं? वह भिक्षु-दूषिका तो नहीं है? चोर तो नहीं है? वातिला, पित्तिला, पिण्डिला तो नहीं है? वह हलवाहिनी, पूयवाहिनी, चक्रवाहिनी तो नहीं है? वह आर्द्रव्रर्णा, शुष्कवर्णा, शोणितवर्णा तथा पुरुष-द्वेषिनी तो नहीं है?

इन प्रश्नों में अनेक ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तार देने में भिक्षुणी संकोच करती थी। अतः यह विधान बनाया गया कि उपसम्पदा देने के पहले शिक्षमाणा को अनुशासन आदि की शिक्षा देनी चाहिए। तदुपरान्त उन्हें इन प्रश्नों की महत्ता का बोध कराया जाता था तथा उन्हें यह बताया जाता था कि यह समय उनके जीवन का निर्णायक समय है अतः संघ के मध्य इन प्रश्नों का उत्तार संकोचरहित होकर "हाँ" या "नहीं" में देना चाहिए।[3]

तुलना : इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रवेश के समय दोनों संघों में यथा-सम्भव सावधानी बरती जाती थी। इन प्रश्नों का अत्यधिक महत्त्व था क्योंकि इनके माध्यम से स्त्री के जीवन की, विशेषकर उसके गृहस्थ-जीवन की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली जाती थी। इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि संघ में प्रवेश करने वाली नारी नपुंसक, दासी, ऋणी या किसी रोग से ग्रस्त न हो। स्त्री-नपुंसकों के प्रवेश से संघ की मर्यादा को

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९१.
२. भिक्षुणी विनय, §३५, ३६.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३९३.

धक्का पहुँच सकता था तथा साधना में भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती थीं। ऋणग्रस्त नारी के ऊपर दाता का पूरा अधिकार रहता था, अतः ऋण के भार से मुक्त हुए बिना यदि वह संघ में प्रवेश लेती थी तो ऋणदाता संघ से उसको वापस लेने के लिए कलह कर सकता था। रोगी भिक्षुणी प्रारम्भ से ही संघ के ऊपर भार हो जाती थी अतः इस स्थिति से यथासम्भव बचने का प्रयत्न किया जाता था। इसी प्रकार राजकीय सेवा में लगी नारी को प्रवेश नहीं दिया जाता था क्योंकि इससे संघ में राजकीय हस्तक्षेप की सम्भावना हो सकती थी। चूँकि संघ राजकीय नियन्त्रण से मुक्त रहते थे, अतः यह विशेष सावधानी रखी जाती थी कि संघ तथा राज्य के सम्बन्ध कटु न हो सकें। इसी प्रकार प्रवेश के समय नारी को अपने संरक्षक से अनुमति लेनी अनिवार्य थी अन्यथा बाद में यह घटना संघ और अभिभावकों के मध्य कलह का कारण बनती थी। इस प्रसंग में सुदिन्निका[1] नामक बौद्ध भिक्षुणी का उदाहरण द्रष्टव्य है। पति की मृत्यु के बाद सुदिन्निका ने अपने संरक्षक (पति के अनुज) से अनुमति लिए बिना ही भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था। बाद में उसके देवर ने संघ में जाकर सुदिन्निका की प्रवर्तिनी से कलह किया था। संघ इन सभी कलहों एवं झगड़ों से अपने को मुक्त रखना चाहता था, क्योंकि वह एक धार्मिक संस्था थी और धार्मिक कार्यों का निर्वहन ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

एक अन्तर और द्रष्टव्य है। जैन भिक्षुणी-संघ में दीक्षा के समय सभी तथ्यों की सूक्ष्म छानबीन कर ली जाती थी परन्तु बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रव्रज्या के पश्चात् उपसम्पदा प्रदान करने के समय इन प्रश्नों को पूछा जाता था। वैसे, इन प्रश्नों को प्रव्रज्या (संघ-प्रवेश) के समय ही पूछने का विधान करना चाहिए था ताकि प्रव्रज्या के पश्चात् इन दोषों के कारण किसी शिक्षमाणा को निराश न होना पड़े।

प्रव्रज्या और आयु

जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवेश के समय आयु—स्थानांग टीका के अनुसार जैन भिक्षु तथा भिक्षुणी-संघ में बाल तथा वृद्ध को दीक्षा देना निषिद्ध था। परन्तु "बाल" शब्द कितनी उम्र का वाचक है—यह स्पष्ट नहीं

---

१. भिक्षुणी विनय, §१५८.

है। व्यवहार सूत्र[1] के अनुसार आठ वर्ष से कम आयु वाले क्षुल्लक-क्षुल्लिका उपस्थापना के लिए अयोग्य माने जाते थे। उन्हें मण्डली में भोजन ग्रहण करने की अनुमति नहीं थी। नियमानुसार बिना उपस्थापना के संघ में उनकी ज्येष्ठता का निर्धारण नहीं होता था। इससे स्पष्ट है कि आठ वर्ष से कम आयु वाले स्त्री-पुरुष को दीक्षा देने का निषेध था। यदि वे दीक्षा ग्रहण भी कर लेते थे तो आठ वर्ष पूरा किये बिना उन्हें यथोचित अधिकार प्रदान नहीं किया जाता था। क्षुल्लिका के रूप में कुछ समय तक नियमों को सीखने के उपरान्त ही वह भिक्षुणी बनती थी।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश के समय आयु—भिक्खुनी पाचित्तिय नियम के अनुसार १२ वर्ष से कम की विवाहित (गिहीगता) शिक्षमाणा[2] तथा २० वर्ष से कम की अविवाहित (कुमारीभूता) शिक्षमाणा[3] को उपसम्पदा देना निषिद्ध था अर्थात् इससे कम उम्र में वह भिक्षुणी नहीं बन सकती थी। प्रव्रज्या के पश्चात श्रामणेरी के रूप में १० शिक्षापदों का पालन करने के पश्चात् ही वह शिक्षमाणा बन सकती थी। शिक्षमाणा के रूप में उसे दो वर्ष तक षड्नियमों का पालन करना पड़ता था। परन्तु वह श्रामणेरी के रूप में कितने वर्ष तक रहती थी—यह ज्ञात नहीं है। अतः इससे यह पता तो नहीं चलता कि प्रव्रज्या अर्थात् संघ-प्रवेश के समय नारी की निम्नतम आयु कितनी होती थी परन्तु इतना स्पष्ट है कि उपसम्पदा के समय विवाहित शिक्षमाणा की उम्र कम से कम १२ वर्ष तथा अविवाहित शिक्षमाणा की उम्र कम से कम २० वर्ष रहनी आवश्यक थी। यहाँ विवाहित भिक्षुणियों से तात्पर्य उन स्त्रियों से प्रतीत होता है जो विवाह के पश्चात् विधवा हो जाती थीं और उनके लिए संघ-प्रवेश के अतिरिक्त सम्मानित जीवन व्यतीत करने का और कोई विकल्प नहीं रहता था।

उपर्युक्त नियम के कुछ अपवाद भी पाये जाते हैं। महावंस[4] के अनुसार संघमित्रा को १८ वें वर्ष में प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा दोनों प्राप्त हो गई थी। इससे स्पष्ट होता है कि देश-काल के अनुसार नियमों में थोड़े बहुत परिवर्तन होते रहते थे।

१. व्यवहार सूत्र, १०/२०.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ७१.
३. वही, ७४.
४. महावंस, ५/२०५.

दीक्षा-विधि

जैन भिक्षुणी-संघ में दीक्षा-विधि—संघ में प्रवेश सम्बन्धी अयोग्यताओं से रहित तथा संरक्षक से अनुमति प्राप्त नारी ही जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवेश कर सकती थी। स्त्रियों के दीक्षा धारण करने के समय का विस्तृत विवरण जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। संरक्षक से अनुमति प्राप्त कर लेने पर दीक्षा के दिन दीक्षा-महोत्सव का आयोजन किया जाता था। उस समय प्रवेशार्थिनी नारी विविध प्रकार का दान देती थी जिसमें उसके द्वारा धारण किए हुए आभूषण तथा वस्त्र मुख्य होते थे। तदनन्तर वह कलशों में रखे जल से स्नान करती थी। तदुपरान्त वह साध्वी का वस्त्र धारण कर पञ्चमुष्टि केश-लुञ्चन करती थी। इसके उपरान्त प्रवर्तिनी के द्वारा उसे दीक्षा प्रदान की जाती थी। अन्तकृतदशांग[1] में दीक्षा ग्रहण करती हुई कुछ भिक्षुणियों के सम्बन्ध में इसी तरह का वर्णन प्राप्त होता है। अन्य भिक्षुणियों के सम्बन्ध में भी इसी तरह की प्रथा का पालन किया जाता रहा होगा—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

जैन ग्रन्थों में इन दीक्षा-महोत्सवों का आयोजन केवल धनी नारियों के सन्दर्भ में किया गया है। निर्धन नारियाँ किस प्रकार दीक्षा ग्रहण करती थीं, ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि उनका दीक्षा-महोत्सव अत्यन्त साधारण रहता होगा, क्योंकि उस प्रकार का दान (जैसा वर्णन है) वे कथमपि नहीं कर सकती थीं। सम्भवतः ऐसी नारियाँ केवल अपनी योग्यता के बल पर ही संघ में प्रवेश करती थीं। यह भी सम्भव है कि निर्धन नारियों का दीक्षा-महोत्सव समाज के श्रद्धालु श्रावक करते रहे होंगे। अन्तकृतदशांग में कृष्ण द्वारा अनेक स्त्री-पुरुषों के दीक्षा-महोत्सव करने का उल्लेख प्राप्त है। आधुनिक काल में भी जैन भिक्षुणियों के दीक्षा के समय यह परम्परा देखी जाती है।

जैन भिक्षुणियों द्वारा केशलुञ्चन का उल्लेख अभिलेखों से भी प्राप्त होता है। शकसम्वत् ८९३ में उत्कीर्ण कर्नाटक के एक अभिलेख में

---

१. अन्तकृतदशांग—पञ्चम तथा सप्तम वर्ग।

भिक्षुणी पाम्बब्बे के केश-लुञ्चन का उल्लेख मिलता है।[१]

जैन भिक्षुणियों की इस प्रकार की दीक्षा-विधि से दो तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आते हैं।[२] प्रथम तो यह कि स्त्रियों को चाहे वे अविवाहित हों या विवाहित—अपने संरक्षक से अनुमति लेनी अनिवार्य थी। दूसरे-उन्हें केशलुञ्चन की प्रथा का पालन करना पड़ता था। ऐसा करना प्रत्येक के लिए अनिवार्य था, चाहे वह किसी राजघराने की राजकुमारी हो अथवा कोई साधारण नारी।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में दीक्षा-विधि : बौद्ध भिक्षुणी-संघ में भी स्त्रियों के प्रव्रजित होने के विस्तृत नियम थे। भिक्षुणी-संघ में उपसम्पदा के पश्चात् ही कोई नारी भिक्षुणी बन सकती थी। उपसम्पदा के पूर्व उसे प्रव्रज्या प्रदान की जाती थी। इस समय वह श्रामणेरी कहलाती थी और उसे दश शिक्षापदों[3] का सम्यक्रूपेण पालन करना होता था। इसके उपरान्त उसे शिक्षमाणा के रूप में कम से कम दो वर्ष तक षड्-शिक्षापदों के पालन का व्रत लेना पड़ता था। यह भिक्षुणी बनने के पहले की तैयारी होती थी।

भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा में इस प्रकार का विभाजन नहीं था। ये दोनों एक साथ ही सम्पन्न हो जाती थीं। महाप्रजापति गौतमी तथा उसके साथ की शाक्य नारियों की प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा अष्टगुरुधर्मों को स्वीकार कर लेने पर ही हो गई थी। सम्भवतः संघ में नारियों की बढ़ती हुयी संख्या को देखकर तथा अयोग्य नारियों के प्रवेश को रोकने के लिए इस नियम में परिवर्तन करके प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा में भेद कर दिया गया होगा।

सर्वप्रथम उपसम्पदा चाहने वाली शिक्षमाणा के बारे में उपाध्याया (जो शिक्षमाणा को दो वर्ष शिक्षा प्रदान करती थी) भिक्षुणी-संघ को सूचित करती थी कि इस नाम वाली शिक्षमाणा को उसने (उपाध्याया ने) शिक्षित किया है। तदुपरान्त वह शिक्षमाणा के द्वारा भिक्षुणियों के चरणों में वन्दना करवाकर उपसम्पदा के लिए याचना करवाती थी। शिक्षमाणा तीन बार संघ में प्रवेश करने के लिए प्रार्थना करती थी। इसके उपरान्त भिक्षुणी-संघ की कोई विदुषी भिक्षुणी भिक्षुणी-संघ को

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग द्वितीय, पृ० १९७.
2. History of Jaina Monachism, p. 466.
३. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का षष्ठ अध्याय.

उस शिक्षमाणा के बारे में बताता थी कि यह इस विशेष नाम वाली आर्या की उपसम्पदा चाहने वाली शिक्षमाणा है तथा विघ्नकारक (अन्तरायिक) प्रश्नों के पूछने के लिए संघ की अनुमति चाहती है। फिर संघ की अनुमति से उससे अन्तरायिक धर्मों (प्रश्नों) के विषय में पूछा जाता था। यदि वह प्रश्नों की कसौटी पर खरी उतरती थी तो संघ को उसकी शुद्धता के बारे में सूचना दी जाती थी। इसके उपरान्त संघ से यह अनुरोध किया जाता था कि संघ यदि उचित समझे तो इस नाम वाली शिक्षमाणा को इस विशेष नाम वाली आर्या के उपाध्यायत्व में उपसम्पदा की आज्ञा प्रदान करे। यह ज्ञप्ति (ञति) होती थी। इसके बाद तीन बार अनुश्रावण होता था अर्थात् उसी बात को संघ के समक्ष तीन बार दुहराया जाता था। फिर धारणा के समय यदि संघ मौन धारण किये रहता था (अर्थात् शिक्षमाणा के बारे में संघ को कोई शिकायत नहीं होती थी) तो यह समझा जाता था कि संघ को इसका (शिक्षमाणा का) उपसम्पन्न होना स्वीकार है। इसके तुरन्त बाद वह शिक्षमाणा भिक्षु-संघ में लायी जाती थी तथा भिक्षुणी-संघ में सम्पन्न हुई सारी कार्यवाहियां पुनः दुहरायी जाती थीं। यदि धारणा के समय भिक्षु-संघ मौन धारण किये रहता था तो वह शिक्षमाणा तुरन्त बौद्धसंघ में उपसम्पन्न कर ली जाती थी अर्थात् अब वह पूरे अर्थों में भिक्षुणी कहलाने की अधिकारिणी हो जाती थी।[1] भिक्षुणियों की उपसम्पदा अट्ठवाचिक उपसम्पदा कही जाती थी क्योंकि इनके सन्दर्भ में "ञति चतुत्थकम्म" का पालन दो बार (पहले भिक्षुणी-संघ में तत्पश्चात् भिक्षु-संघ में) होता था। एक ज्ञप्ति (ञति) तथा तीन अनुश्रावण को ञतिचतुत्थकम्म कहा जाता था।[2]

उपसम्पदा प्रदान करने वाली प्रवर्तिनी (उपाध्याया अथवा उपाध्यायिनी) की योग्यता का भी ध्यान रखा जाता था। भिक्षुणी-संघ की कोई योग्य उपाध्याया ही किसी शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान कर सकती थी। कम से कम १२ वर्ष तक भिक्षुणी का जीवन व्यतीत की हुई प्रवर्तिनी ही उपसम्पदा प्रदान करने की अधिकारिणी थी। वह बिना संघ की सम्मति के किसी शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान नहीं कर सकती थी।[3] उसे अपनी शिक्षमाणा को पूरे दो वर्ष तक षड्धर्मों[4] का

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९३-९५; भिक्षुणी विनय, §२८-६६.
२. समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १५१४.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ७४ और ७५.
४. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का षष्ठ अध्याय.

सम्यक् पालन कराना पड़ता था। इस नियम की अवहेलना करने पर उसे पाचित्तिय का दण्ड लगता था।[१] अपनी शिक्षमाणा के साथ प्रवर्तिनी को कम से कम ५-६ योजन तक यात्रा करने का विधान था।[२] सम्भवतः इससे यह विश्वास किया गया था कि शिक्षमाणा इस भ्रमण से अपनी भविष्य की परिस्थितियों के प्रति जागरूक हो जायेगी।

प्रारम्भ में भिक्षु ही भिक्षुणी को उपसम्पदा प्रदान कर सकता था जिसकी अनुमति स्वयं बुद्ध ने दी थी।[३] परन्तु बाद में इस नियम में परिवर्तन आया। परिवर्तित नियम के अनुसार शिक्षमाणा को सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ में उपसम्पदा प्रदान की जाती थी, तदनन्तर भिक्षु-संघ में। महावंस[४] में हम देखते हैं कि थेर महेन्द्र ने सिंहल राजा की रानियों को उपसम्पदा देना अस्वीकार कर दिया था तथा अपनी बहन थेरी संघमित्रा को भारत से बुलाने की राय दी थी।

उपसम्पदा की अनुमति देने वाले संघ में उसके सदस्यों की संख्या कितनी होती थी, भिक्षुणी-संघ के सम्बन्ध में इसका उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु भिक्षु की उपसम्पदा के सम्बन्ध में संघ की संख्या का उल्लेख मिलता है। मध्यम देश (उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि का अधिकांश भाग) में संघ के सदस्यों की संख्या कम से कम १० होनी चाहिए। गण-पूर्ति में योग्य भिक्षु-भिक्षुणियों की गणना होती थी। इसके बाहर के भूभाग अर्थात् दक्षिण तथा सीमान्त आदि प्रदेशों में संघ की संख्या कम से कम ५ हो सकती थी। सम्भवतः भिक्षुणिओं के सन्दर्भ में भी इसी नियम का पालन किया जाता रहा होगा।

बौद्ध संघ में प्रवेश के उपरान्त भिक्षुणी को समय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए छाया को मापने की प्रक्रिया का ज्ञान कराया जाता था। छाया-ज्ञानके द्वारा उसे ऋृतु तथा दिन के सम्यक् विभाजन का बोध कराया जाता था ताकि भोजन, भ्रमण तथा अध्ययन के सम्बन्ध में उसे कोई कठिनाई न हो। इसके उपरान्त उसे तीन निश्रय बतलाए जाते थे जो निम्न थे।

(१) उसे अब जीवन भर भिक्षा माँगकर भोजन करना पड़ेगा।

(२) जीर्ण वस्त्र (पाँसुकुल) धारणा करना पड़ेगा।

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ६३, ६६, ६७, ७२.

२. वही, ७०.

३. चुल्लवग्ग, पृ० ३७७.

४. महावंस १५/१९-२३..

(३) औषधि के रूप में उसे गोमूत्र का सेवन करना पड़ेगा।[1]

तीन निश्रयों को बतलाने के उपरान्त भिक्षुणी को आठ अकरणीय धर्मों का ज्ञान कराया जाता था। ये अकरणीय धर्म पाराजिक दण्ड के ही नियम थे। इन अकरणीय धर्मों से उन्हें सर्वदा विरत रहने की शिक्षा दी जाती थी। भिक्षुणियों के अकरणीय (पाराजिक) निम्न थे:—

१. मैथुन करना
२. चोरी की वस्तु ग्रहण करना
३. जान-बूझकर हत्या करना
४. दिव्य शक्ति का प्रदर्शन करना
५. कामासक्त होकर किसी पुरुष का स्पर्श करना
६. पाराजिक अपराधिनी भिक्षुणी को जानते हुए भी संघ को न सूचित करना
७. संघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन करना
८. कामासक्त होकर किसी कामुक पुरुष के साथ एकान्त स्थान में जाना[2]

बौद्ध संघ में भिक्षुणियाँ दूत भेजकर भी उपसम्पदा प्राप्त कर सकती थीं। परन्तु यह सामान्य नियम नहीं था और केवल उसी स्थिति में किया जाता था जब भिक्षु-संघ कहीं दूर रहता था तथा भिक्षुणी के स्वयं वहाँ उपस्थित होने पर उसके शील-सुरक्षा का भय रहता था। यहाँ भी उपसम्पदा के सारे नियमों का पालन किया जाता था। यह इसलिए सम्भव हो पाता था कि उपसम्पदा सम्बन्धी सारी औपचारिकता भिक्षुणी-संघ में पहले ही पूरी हो जाती थी। काशी की गणिका अड्ढ-काशी ने दूत भेजकर उपसम्पदा प्राप्त की थी, क्योंकि भिक्षु-संघ तक पहुँचने में उसे अपने शील की सुरक्षा के सम्बन्ध में खतरा प्रतीत हो रहा था।[3] भिक्षुणी-संघ की कोई चतुर सदस्या ही दूती का काम कर सकती थी। भिक्षु-संघ से वह बताती थी कि उपसम्पदा की इच्छुक शिक्षमाणा सभी दोषों से रहित है, उससे अन्तरायिक धर्मों के विषय में पूछा जा चुका है तथा उपसम्पदा के लिए भिक्षुणी-संघ की अनुमति मिल चुकी है। अब उसे भिक्षु-संघ की अनुमति अपेक्षित है। भिक्षु-संघ की

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९५.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाराजिक, १-८.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३९७-९९; भिक्षुणी विनय, § ७०-८३.

अनुमति प्राप्त होने पर उसे भिक्षुणी-संघ में उपसम्पन्न कर लिया जाता था।

द्रष्टव्य है कि भिक्षुओं को दूत भेजकर उपसम्पदा प्राप्त करने का विधान नहीं था क्योंकि उन्हें उपसम्पन्न होने के लिए केवल भिक्षु-संघ की ही अनुमति आवश्यक थी। इसके विपरीत, भिक्षुणियों को दोनों संघों से अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक थी। बिना भिक्षु-संघ की अनुमति के उनकी उपसम्पदा नहीं हो सकती थी।

तुलना : दोनों धर्मों में भिक्षुणी-संघ में नारियों के प्रवेश सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि प्रवेश सम्बन्धी नियमों में दोनों धर्मों में बहुत कुछ समानताएँ थीं, किन्तु कुछ अन्तर भी थे।

दोनों संघों में प्रवेश के लिए नारी को अपने संरक्षक से अनुमति लेनी अनिवार्य थी। संरक्षक—माता-पिता, भाई, पति अथवा पुत्र कोई भी हो सकता था। संघ में बिना संरक्षक की अनुमति के प्रवेश करने पर संघ तथा भिक्षुणी के संरक्षक के मध्य कटुता बढ़ती थी। अतः संरक्षक की अनुमति को आवश्यक मानकर ऐसे विवादों से बचने का प्रयास किया गया था।

दोनों संघों में भिक्षुणी बनने के पूर्व उसे नियमों को सीखने का विधान किया गया था। जैन भिक्षुणी क्षुल्लिका के रूप में कुछ समय तक किसी योग्य भिक्षुणी की देख-रेख में रहती थी तथा नियम को सीखने के उपरान्त वह भिक्षुणी कहलाती थी। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुणी-संघ में नारी श्रामणेरी के रूप में १० शिक्षापदों तथा शिक्षमाणा के रूप में कम से कम दो वर्ष तक षड्नियमों की जानकारी प्राप्त करती थी। तदुपरान्त उसकी उपसम्पदा होती थी।

संघ में प्रवेश सम्बन्धी नियमों में दोनों संघों में कुछ मूलभूत अन्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं। जैन भिक्षुणी-संघ में केश-लुञ्चन की प्रथा अनिवार्य थी जबकि बौद्ध भिक्षुणी-संघ में इस प्रकार का कोई नियम नहीं था। बौद्ध भिक्षुणियाँ केवल सिर के बाल कटवा लेती थीं।

जैन भिक्षुणी-संघ में प्रथम दीक्षा के समय नारी के पूर्व जीवन (गृहस्थ-जीवन), रोग, व्याधि की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली जाती थी जबकि बौद्ध भिक्षुणी-संघ में ये सारी जानकारियाँ उपसम्पदा के समय प्राप्त की जाती थीं। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुणी-संघ में दूती भेजकर भी उपसम्पदा

प्राप्त की जा सकती थी। पर ऐसा कोई उदाहरण जैन भिक्षुणी-संघ के सन्दर्भ में नहीं प्राप्त होता।

दीक्षा-विधि में भी अन्तर था। बौद्ध भिक्षुणी-संघ में उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए शिक्षमाणा को लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था। भिक्षु तथा भिक्षुणी—दोनों संघों की सहमति अनिवार्य थी। सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ में तत्पश्चात् भिक्षु-संघ में उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए ज्ञप्ति तथा तीन बार वाचना (अनुश्रावण) की जाती थी तथा अन्त में धारणा के द्वारा संघ की मौन सहमति से उसकी स्वीकृति की सूचना मिलती थी। जैन भिक्षुणी-संघ में इतनी लम्बी प्रक्रिया नहीं थी। क्षुल्लिका के रूप में सामायिक चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् भिक्षुणी आचार-नियमों की पूर्ण जानकारी प्राप्त करती थी। तदुपरान्त वह प्रवर्तिनी से बड़ी दीक्षा-ग्रहण करती थी। इसे जैन परम्परा में छेदोस्थापनीय चारित्र या महाव्रतारोहण कहा जाता था।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात् भिक्षुणी को तीन निश्रय तथा आठ अकरणीय कर्म बतलाए जाते थे। जैन भिक्षुणियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के निश्रय तथा अकरणीय कर्मों का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। यद्यपि इनका पालन जैन भिक्षुणी-संघ में भी होता था।

द्वितीय अध्याय

आहार तथा वस्त्र सम्बन्धी नियम

जैन भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम

जैन संघ में भोजन, वस्त्र, पात्र आदि के बारे में भिक्षुणियों के लिए अलग से नियम निर्धारित नहीं किये गये थे। नियमों के प्रसंग में "भिक्खु वा भिक्खुणी वा" तथा "निग्गन्थ वा निग्गन्थी वा" शब्द से यह स्पष्ट होता है कि भिक्षु भिक्षुणियों के लिए प्रायः समान नियमों की व्यवस्था थी।

भिक्षुणियों की भिक्षावृत्ति की तुलना भ्रमर से की गयी है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को किसी प्रकार की पीड़ा न देता हुआ उसके रस को ग्रहण कर अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है, उसी प्रकार भिक्षु-भिक्षुणियों को गृहस्थों को किसी प्रकार की पीड़ा न देते हुए उनके द्वारा बनाये गये भोजन में से अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेने का निर्देश दिया गया था।[1] उन्हें स्वादिष्ट भोजन की लालच में किसी सम्पन्न घर में जाने का निषेध था, अपितु उन्हें सलाह दी गयी थी कि वे सभी घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करें।[2] यद्यपि एक ही घर से भी भोजन ग्रहण किया जा सकता था।

यदि वर्षा हो रही हो, घना कुहरा पड़ रहा हो, आँधी चल रही हो या टिड्डी आदि जीव-जन्तु इधर-उधर घूम रहे हों तो ऐसे समय भिक्षा-वृत्ति के लिए जाने का निषेध किया गया था।[3] जिस स्वामी के उपाश्रय (शय्यातर) में भिक्षुणी रह रही हो, उसके घर से भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध था।[4] दूसरे के घर का आहार भी यदि शय्यातर के यहाँ आ जाय, तब भी वह उसके यहाँ से भोजन नहीं ले सकती थी। भिक्षा-वृत्ति के लिए भिक्षुणी को अकेले जाना निषिद्ध था। उसे दो या तीन

---

१. दशवैकालिक, १/२-४.
२. वही, ८/२३.
३. वही, ५/१/८.
४. बृहत्कल्प सूत्र २/१३.

भिक्षुणियों के साथ जाने का विधान किया गया था।[१] उसे यह निर्देश दिया गया था कि वह उद्विग्नता रहित, शान्तचित्त होकर भिक्षा के लिए धीरे-धीरे जाय।[२] वह युग-प्रमाण दृष्टि को देखती हुई तथा बीज, हरियाली, जीव, जल तथा सजीव मिट्टी को बचाती हुई चले।[३] यहाँ युग-प्रमाण का अर्थ भाष्यकारों ने सामने की चार हाथ भूमि से लिया है अर्थात् उन्हें उतनी दूरी तक देखकर चलना चाहिए। इससे यह विश्वास किया गया था कि उनका मन चञ्चल नहीं होगा तथा किसी सूक्ष्म प्राणी की हिंसा की सम्भावना भी नहीं रहेगी। भिक्षुणी को विषम मार्ग तथा पेड़ों या अनाजों के डण्ठलों से युक्त मार्ग पर चलने का निषेध था। कीचड़युक्त रास्ते से भी यथासम्भव बचने का निर्देश दिया गया था, क्योंकि इससे यह सम्भव था कि साध्वी फिसल जाय और गिर पड़े।[४] परन्तु यदि जाने का दूसरा उत्तम मार्ग न हो, तो वह उस रास्ते से सावधानीपूर्वक जा सकती थी।[५] भिक्षुणी को कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर के ऊपर से जाने का निषेध था।[६] रास्ते पर यदि काटने वाला कुत्ता, उन्मत्त बैल, घोड़ा या हाथी हो अथवा युद्धस्थल पड़ता हो तो यथासम्भव उसे उस रास्ते से बच कर जाने का निर्देश दिया गया था।[७] उसे अतिशीघ्रता से नहीं चलना चाहिए। चलते हुए हँसना या वार्तालाप करना भी वर्जित था। उसे भिक्षा के लिए आतुरता नहीं व्यक्त करनी चाहिए, अपितु अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए।[८] जिस रास्ते पर राजा, कोतवाल आदि राज्याधिकारियों के भवन पड़ते हों, भिक्षुणी को उस रास्ते से जाने का निषेध किया गया था[९] क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं कि राजा आदि सुन्दर भिक्षुणियों को देखकर उन्हें अपने अन्तःपुर में रखने का प्रयत्न करते थे। आचार्य कालक

१. बृहत्कल्प सूत्र, ५/१६.
२. दशवैकालिक, ५/१/२.
३. वही, ५/१/३.
४. वही, ५/१/४.
२. वही, ५/१/५.
६. वही, ५/१/७.
७. वही, ५/१/२.
८. वही, ५/१/१३-१४.
९. वही ५/१/१६.

की बहन भिक्षुणी सरस्वती पर उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल की आसक्त हो जाने की कथा सर्वप्रसिद्ध है। इसी प्रकार रास्ते पर यदि पक्षीगण दाना चुग रहे हों तो उन्हें उस रास्ते से भी जाने का निषेध किया गया था तथा साथ ही यह निर्देश दिया गया था कि भिक्षा के लिए जाते समय रास्ते में न तो कहीं बैठें और न कहीं खड़े होकर सम्भाषण करें।[१] भिक्षुणी को आहार के लिए उच्च-निम्न सभी घरों में जाने का निर्देश दिया गया था तथापि वह बिना सोचे-विचारे सभी लोगों के यहाँ भिक्षा के लिए नहीं जा सकती थी। वेश्या के मुहल्ले में जाना तथा वहाँ भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध था[२] क्योंकि ऐसे स्थान पर जाने से वह शका का पात्र बन सकती थी। इसी प्रकार परवर्ती ग्रन्थ निशीथ सूत्र[३] के अनुसार घृणित कुलों (दुगुच्छियं कुलेसु) में भिक्षा प्राप्त करना निषिद्ध था। टीकाकार ने घृणित कुल का अर्थ लोहार, वरूड़, चमार तथा कल्लाल आदि कुलों से किया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज में जाति-प्रथा के बन्धन कठोर होते जा रहे थे और श्रमणों की धार्मिक संस्थाएँ भी इससे अछूती न रह सकीं थी।

स्थानांग[४] में आहार के चार प्रकार बताये गये हैं।

अ—असणं—अन्न से निर्मित खाद्य-पदार्थ

ब—पाणं—पेय-पदार्थ

स—खाइमं—लौंग, इलायची आदि मुख-शुद्धि के पदार्थ

द—साइमं—मिष्ठान्न आदि स्वादिष्ट पदार्थ

जैन ग्रन्थों में उपयुक्त तथा अनुपयुक्त प्रकार के आहार का सम्यक् विवेचन है। साध्वी को यह निर्देश दिया गया था कि वह उपयुक्त आहार ही ग्रहण करे[२]। आहार से सम्बन्धित दोषों को चार भागों में बाँटा गया है।[५]

(क) उद्गम	(ख) उत्पादन
(ग) एषणा	(घ) परिभोग

---

१. दशवैकालिक, ५/२/७-८.

२. वही, ५/१/९-१०.

३. निशीथसूत्र, १६/२८-३२; विशेष चूर्णि, भाग चतुर्थ, ५७६०.

४. स्थानांग, ४/२९५.

५. उत्तराध्ययन, २४/१२.

पिण्डनिर्युक्ति[1] में आहार-प्राप्ति के ४२ तथा आहार-ग्रहण करने (परिभोग) के ५ दोष बताये गये हैं। आहार के ४२ दोषों में १६ उद्गम के, १६ उत्पादन के तथा १० एषणा के हैं।[2]

उद्गम के १६ दोष (१) आधाकर्म—विशेष साधू के उद्देश्य से आहार बनाना, (२) औद्देशिक—भिक्षुओं के उद्देश्य से आहार बनाना, (३) पूतिकर्म—शुद्ध आहार को अशुद्ध आहार से मिश्रित करना, (४) मिश्रजात—अपने लिए व साधू के लिए मिलाकर आहार बनाना, (५) स्थापना—साधू के लिए कोई खाद्य पदार्थ अलग रख देना, (६) प्राभृतिका—साधू को निकट के गावों में आया जानकर भोज के दिन को इधर-उधर करना, (७) प्रादुकरण—अन्धकारयुक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन बनाना, (८) क्रीत—खरीदा हुआ आहार (९) प्रामित्य—उधार लाया हुआ, (१०) परिवर्तित—अदला-बदली करके लाया हुआ, (११) अभिहृत—साधू को दूर से लाकर आहार देना, (१२) उद्भिन्न—साधु के लिए लिप्त पात्र का मुंह खोलकर घृत आदि देना, (१३) मालापहृत—ऊपर की मंजिल या सीढ़ी से उतर कर देना, (१४) आच्छेद्य—दुर्बल से छीन कर देना, (१५) अनिसृष्ट—सांझे की वस्तु को दूसरों की आज्ञा के बिना देना, (१६) अज्झोयर—साधू को आया हुआ जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और मात्रा बढ़ा देना।

उत्पादन के १६ दोष[3]—(१) धात्री-धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को प्रसन्न करके आहार लेना, (२) दूती—संदेशवाहक बनकर आहार लेना, (३) निमित्त–शुभाशुभ का निमित्त बताकर आहार लेना, (४) आजीव-आहार के लिए जाति-कुल आदि बताना, (५) वनीपक—गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लना, (६)चिकित्सा—औषधि आदि बताकर आहार लेना, (७) क्रोध—क्रोध करके या शापादि का भय दिखाकर आहार लेना, (८) मान—अपना प्रभुत्व बताकर आहार लेना, (९) माया—छल-कपट से आहार लेना, (१०) लोभ–सुस्वादु भिक्षा के लिए अधिक गवेषणा करना, (११) पूर्वपश्चात्संस्तव-गृहस्थ के माता-पिता अथवा सास-ससुर से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना, (१२) विद्या—विद्या-प्रयोग करके भिक्षा लेना, (१३) मन्त्र—मन्त्र-प्रयोग से आहार लेना, (१४) चूर्ण—

१. पिण्डनिर्युक्ति, ६६९.
२. वही, ९२-९३.
३. वही, ४०८-४०९.

चूर्ण आदि वशीकरण मन्त्रों का प्रयोग करके आहार लना, (१५) योग—सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रयोग करके आहार लेना, (१६) मूलकर्म—गर्भस्तम्भन आदि विद्या का प्रयोग करके आहार लेना,

एषणा के १० दोष[1]—(१) शंकित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी आहार लेना, (२) मुद्रित—सचित्तयुक्त आहार लेना, (३) निक्षिप्त—सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना, (४) पिहित—सचित्त वस्तु से ढँका हुआ आहार लेना, (५) संहृत—पात्र में पहले से रखे हुए अनुपयुक्त पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से लेना, (६) दायक—गर्भिणी आदि से आहार लेना, (७) उन्मिश्र—सचित्त से मिश्रित आहार लेना, (८) अपरिणत—अधपका आहार लेना, (९) लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त पात्र या हाथ से आहार लेना, (१०) छर्दित—ऐसा आहार जिस पर पानी के छींटे आदि पड़े हों अथवा देते समय बाहर गिरता हुआ आहार लेना।

परिभोग के ५ दोष[2]—(१) संयोजन—भोजन को सुस्वादु बनाने के लिए दूध, शक्कर आदि पदार्थ मिलाना, (२) अप्रमाण—प्रमाण से अधिक भोजन करना, (३) अंगार—सुस्वादु भोजन को प्रशंसा करते हुये खाना, (४) धूम—स्वादरहित आहार को निन्दा करते हुये ग्रहण करना, (५) अकारण—आहार करने के छः कारणों के अतिरिक्त बल-वृद्धि के लिए आहार करना।

भिक्षुणी को आहार सम्बन्धी उपर्युक्त दोषों से रहित आहार ह ग्रहण करने और उपभोग करने का निर्देश दिया गया था। आहार से सम्बन्धित उपर्युक्त नियमों का यदि हम सूक्ष्मता से अवलोकन करें तो इन सारे नियमों के मूल में जैनधर्म का अहिंसापरक दृष्टिकोण दिखायी पड़ता है। किसी भी परिस्थिति में सूक्ष्मजीव की हत्या न हो इसका कठोरता से पालन किया जाता था। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता था कि गृहस्थ के ऊपर भोजन का अतिरिक्त भार न पड़े। गृहस्थ के द्वारा दिये गये भोजन की वह निन्दा नहीं कर सकती थी—अपितु भोजन चाहे स्वादिष्ट हो या स्वाद-रहित, उसे समभाव से खाने का निर्देश दिया गया था। भोजन को व्यर्थ में फेंकने की अनुमति नहीं थी।[3]

१. पिण्डनिर्युक्ति, ५२०.

२. वही, ६३५-६६८.

३. दशवैकालिक, ५/२/१.

आहार का उद्देश्य सुस्वादु भोजन करना अथवा शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाये रखना नहीं था अपितु केवल जीवन-निर्वाह करना था, अर्थात् रूखा-सूखा खाकर शरीर को केवल इस योग्य बनाये रखना था ताकि सरलतापूर्वक धर्म-साधना की जा सके।

उत्तराध्ययन में भोजन ग्रहण करने के छः हेतुओं का उल्लेख है।

(१) वेयण—क्षुधा-वेदना की शान्ति के लिए
(२) वेयावच्चे—वैयावृत्य (सेवा) के लिए
(३) इरियट्ठाये—ईर्यासमिति के पालन के लिए
(४) संजमट्ठाए—संयम पालन के लिए
(५) पाणवत्तियाए—प्राणों की रक्षा के लिए
(६) धम्मचिन्ताए—धर्मचिन्तन के लिए[1]

स्पष्ट है कि जैन भिक्षु-भिक्षुणियों से यह आशा की गयी थी कि वे शरीर के प्रति अनावश्यक मोह को त्यागें तथा अन्तःकरण की उन शक्तियों का विकास करें जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो सके। किसी भी दशा में भिक्षुणी को मदिरापान की आज्ञा नहीं थी।[2] इसी सन्दर्भ में उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि स्वादिष्ट भोजन की लालच में वे निर्धन गृहस्थों के घरों को छोड़कर धनी गृहस्थों के घरों में न जायें।[3]

उत्तराध्ययन के अनुसार भिक्षैषणा के लिए जाने का श्रेष्ठ समय दिन का तृतीय प्रहर है।[4] सूर्योदय से पूर्व तथा सूर्यास्त के बाद आहार लेना सर्वथा वर्जित था।[5] इसी प्रकार रात्रि में भोजन करने का सर्वथा निषेध किया गया है। रात्रि में सूक्ष्म प्राणी दिखायी नहीं देते हैं। अतः इसमें हिंसा की प्रबल सम्भावना बनी रहती है।[6]

इससे स्पष्ट है कि जैन साधु या साध्वी को दिन में केवल एक बार भोजन करने का विधान था। प्रथम प्रहर में लाये हुये भोजन को अन्तिम प्रहर तक रखना निषिद्ध था। यह निर्देश दिया गया था कि ऐसे लाये

---

१. उत्तराध्ययन, २६/३३.
२. दशवैकालिक, ५/२/३६.
३. वही, ५/२/२५.
४. उत्तराध्ययन, ३०/२१; २६/३२.
५. दशवैकालिक, ८/२८.
६. वही, ६/२४-२६; बृहत्कल्प सूत्र, १/४४, ५/४७.

हुये आहार को न तो वे स्वयं खॉय और न तो किसी दूसरे को दें अपितु किसी एकान्त स्थान में उस आहार का परित्याग कर दें।[१]

इसी प्रकार भिक्षुणी ने यदि शंकाओं से युक्त भोजन स्वीकार कर लिया हो तो उसे न स्वयं ग्रहण करना चाहिए और न किसी दूसरे को देना चाहिए। हाँ, यदि कोई अनुपस्थापित शिष्या (अणुवट्ठावियए) हो तो उसे वह भोजन दे सकती थी।[२] नवदीक्षिता साध्वी का जब तक यावज्जीवन के लिए महाव्रतारोहण नहीं होता, तब तक वह अनुपस्थापित शिष्या कहलाती थी।

भिक्षा के लिए अपने गच्छ से बहुत दूर जाने का विधान नहीं था। उत्तराध्ययन[३] के अनुसार भिक्षुणी भिक्षा के लिए आधे योजन की दूरी तक जा सकती थी। बृहत्कल्प सूत्र[४] के अनुसार वह एक कोश सहित एक योजन का अवग्रह करके रह सकती थी अर्थात् २½ कोश जाना और २½ कोश लौटना—इस प्रकार ५ कोश जाने-आने का नियम था।

दिगम्बर जैन भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम

दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों से भिक्षुणियों के बारे में अत्यन्त अल्प सूचना प्राप्त होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में "भिक्खु वा भिक्खुणी वा" अथवा "निग्गन्थ वा निग्गन्थी वा" कहकर भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य जिस प्रकार नियमों के प्रसंग में प्रायः समानता प्रदर्शित की गई है उसका भी यहाँ अभाव है। परन्तु मूलाचार के एक श्लोक से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो नियम भिक्षुओं के लिए हैं, व यथायोग्य भिक्षुणियों के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं।[५] इसके अतिरिक्त, भिक्षुणियों के लिए अलग से कुछ नियम भी ग्रन्थों में यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते हैं, जिनके आधार पर उनके आहार सम्बन्धी नियमों की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

---

१. बृहत्कल्प सूत्र, ५/१४.
२. वही, ४/१८.
३. उत्तराध्ययन, २६/३६.
४. बृहत्कल्प सूत्र, ३/३४.
५. एसो अज्जांणविय समाचारो जहाक्खिओ पुव्वं
सव्वह्मि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं।
—मूलाचार, ४/१८७.

आहार के लिए भिक्षुणियों को अकेले जाना निषिद्ध था। उन्हें ३, ५ या ७ की संख्या में जाने का निर्देश दिया गया था।[1] इसके अतिरिक्त भिक्षा-वृत्ति या यात्रा आदि के समय एक थेरी (स्थविरा) भी सर्वदा साथ रहती थी।[2] भिक्षुणियों को अपने लिए भोजन बनाना या किसी कार्य के लिए आग जलाना सर्वथा निषिद्ध था।[3] भिक्षु-भिक्षुणियों को परस्पर एक दूसरे को भोजन देना निषिद्ध था।[4] भिक्षुणियों को दिन में एक बार भोजन ग्रहण करने का निर्देश था। सूर्योदय के पश्चात् तथा सूर्यास्त के पूर्व भोजन कर लेने का विधान था।[5]

भिक्षुणियों को दोष-रहित आहार ही ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उल्लिखित उद्‌गम, उत्पादन, एषणा तथा परिभोग के आहार सम्बन्धी दोष दिगम्बर ग्रंथ मूलाचार में भी प्राप्त होते हैं।[6] इसके अतिरिक्त शुद्ध आहार प्राप्त होने पर भी कुछ परिस्थितियों में भोजन ग्रहण करने से निषेध किया गया था—यथा—भिक्षुणी को यदि कौवा छू ले, वह वमन कर दे, वह अपना या दूसरे का खून देख ले, जीव-हिंसा हो जाय, कोई उस पर प्रहार कर दे, गाँव में आग लग जाय आदि।[7]

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में आहार सन्बन्धी नियमों में प्रायः समानता दीख पड़ती है। दोनों में मुख्य अन्तर यह था कि श्वेताम्बर परम्परा में साध्वियाँ पात्र में भिक्षा लाकर अपने ठहरने के स्थान पर उसका भोग करती थी जबकि दिगम्बर परम्परा में भिक्षुणियां गृहस्थ के घर पर स्वहस्त में भिक्षा ग्रहण कर वहीं उसका उपभोग कर लेती थीं।

बौद्ध भिक्षुणियों के आहार सम्बन्धी नियम

जैन संघ की तरह बौद्ध संघ में भी भिक्षु-भिक्षुणियों के नियमों में कोई अधिक असमानता नहीं थी। भिक्षु-भिक्षुणियों के जो नियम समान

---

१. मूलाचार, ४/१९४.
२. वही, ४/१९४.
३. वही, ४/१९३.
४. वही, ६/४९.
५. वही, ६/७३.
६. वही, ६/३-५७, ६/६३.
७. वही, ६/७६-८२.

थे—उनके सम्बन्ध में भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान ही आचरण करने का निर्देश स्वयं बुद्ध ने दिया था।[1]

बौद्ध भिक्षुणियों का भोजन सादा तथा सात्विक रहता था। आहार सम्बन्धी अनेक नियम थे जिनका पालन करना उनका प्रथम कर्तव्य था। भोजन में लहसुन तथा प्याज का प्रयोग निषिद्ध था।[2] माँगकर या भून-कर भी वह कच्चे अनाज को ग्रहण नहीं कर सकती थी।[3] इसी प्रकार सुरा-पान (सुरामेरय) भिक्षुणियों के लिए सर्वथा वर्जित था।[4] स्वस्थ भिक्षुणी के लिए घी, दही, तेल, मधु, दूध, मक्खन तथा मांस का ग्रहण करना भी वर्जित था। इन पदार्थों को ग्रहण करने पर प्रतिदेशना का दण्ड लगता था।[5]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि बौद्ध संघ में मांस खाना कहाँ तक उचित था। विनय पिटक में ऋषिपत्तन (सारनाथ) की रहने वाली प्रसिद्ध उपासिका सुप्रिया के द्वारा अपना मांस देने का उल्लेख है।[6] प्रसंग के अनुसार एक बौद्ध भिक्षु ने जुलाब (विरेचन) ले लिया था, उसकी वेदना को शान्त करने के लिए अनुदिष्ट मांस न मिलने पर सुप्रिया ने अपने जाँघ के मांस को काटकर दिया था। यह घटना जब बुद्ध को ज्ञात हुई तो उन्होंने उस बौद्ध भिक्षु को बहुत फटकारा तथा दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर भी मनुष्य, हाथी, कुत्ते, सिंह, बाघ, चीते आदि का मांस खाना निषिद्ध ठहराया।[7] इस प्रकार का मांस खाने वाला थुल्लच्चय का गम्भीर दोषी माना जाता था। इस कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध संघ में भिक्षु या भिक्षुणी द्वारा मांस खाना सर्वथा निषिद्ध नहीं था। रोग के निवारण हेतु मांस का औषध के रूप में प्रयोग किया जा सकता था।

बौद्ध भिक्षुणियों को विकाल (मध्याह्न के बाद) में भोजन करना निषिद्ध था। ऐसा करने पर उन्हें पाचित्तिय के दण्ड का भागी बनना

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७९.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १.
३. वही, ७.
४. वही, १३२.
५. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाटिदेसनीय, १-८.
६. महावग्ग, पृ० २३२.
७. वही, पृ० २३३-२३६.

पड़ता था।[1] इसी प्रकार संग्रह करके खाद्य-पदार्थ को ग्रहण करना भी निषिद्ध था।[2]

यदि भोजन आवश्यकता से अधिक प्राप्त हो गया हो तो भोजन को दूसरे भिक्षुणियों के साथ मिलकर खाने का विधान था। परन्तु जहाँ तक भिक्षु-भिक्षुणियों को आपस में भोजन देने का प्रश्न था—इसका निषेध किया गया था। क्योंकि लोगों में इससे असन्तोष फैलता था कि क्या वे स्वयं भिक्षुणियों को भोजन नहीं दे सकते। अतः यह नियम प्रतिपादित किया गया कि भिक्षु-भिक्षुणी के पास यदि आवश्यकता से अधिक भोजन एकत्रित हो जाय तो उसे संघ में दे दें।[3]

सामान्य नियमों के अनुसार भिक्षुणियाँ भिक्षु के साथ भोजन नहीं कर सकती थीं। परन्तु चीनी यात्री फाहियान ने भारत आते हुए कुछ बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को साथ-साथ भोजन करते हुए देखा था।[4] इससे स्पष्ट है कि बाद में भिक्षु-भिक्षुणियों को साथ-साथ भोजन करने की अनुमति मिल गयी थी। भिक्खुनी पाचित्तिय नियम के अनुसार भी भिक्षुणी कुछ विशेष परिस्थितियों में गण (समूह) के साथ भोजन कर सकती थी।[5]

(१) रोगी होने पर
(२) चीवर-दान तथा चीवर बनाने के अवसर पर
(३) यात्रा के समय
(४) नाव पर आरूढ़ होने पर
(५) भिक्षु-संघ के भोजन के अवसर पर
(६) बुद्ध आदि के दर्शन के लिए जाते समय

भिक्षुणी को किसी पुरुष के साथ एकान्त में अथवा एक ही आसन बैठकर भोजन करना निषिद्ध था।[6] इससे लोगों में जनापवाद फैलने का डर था। प्राप्त भोजन को ग्रहण करने के सम्बन्ध में अनेक नियमों का

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १२०.
२. वही, १२१.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३९०.
४. Buddhist Records of the Western World, Vol. I. P. 20-21.
५. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ११८.
६. वही, १२५-१२६.

पालन करना पड़ता था। भिक्षा-पात्र में एक तरफ से ही भोजन ग्रहण करने का विधान था।[१]

उसे यह निर्देश दिया गया था कि पिंड (ग्रास) को सावधानीपूर्वक मुँह में डाले तथा लालचवश अधिक पाने के लिए दाल या भाजी को चावल आदि से न ढँके। भोजन का ग्रास न तो अधिक बड़ा होना चाहिए और न अधिक छोटा। उसका आकार गोल होना चाहिए।[२]

उसे यह शिक्षा दी गयी थी कि ग्रास को मुख तक लाये बिना मुँह न खोले तथा भोजन करते समय हाथ की पूरी उँगलियों को मुँह में न डाले—यह असभ्यता का द्योतक माना जाता था। प्रत्येक भिक्षुणी को यह भी निर्देश दिया गया था कि ग्रास को उछाल-उछाल कर न खाये। इसी प्रकार वस्तु को काट-काटकर खाना निषिद्ध था। भिक्षुणी को भोजन ग्रहण करते समय न तो गाल फुलाना चाहिए और न हाथ झाड़ना चाहिए। खाते समय मुँह से आवाज भी नहीं उत्पन्न करनी चाहिए। भिक्षापात्र को हाथ या ओठ से चाटना भी अनुचित माना गया था। इसी प्रकार जूठन लगे हाथ से पानी के बर्तन को पकड़ना तथा जूठन लगे पात्र को घर में ही छोड़ देना अनुचित माना गया था—इन नियमों का उल्लंघन करने पर संघ के नियमानुसार दुक्कट के दण्ड का भागी बनना पड़ता था।[३]

चौथी शताब्दी में आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने खोतान में कुछ बौद्ध भिक्षुओं को एक साथ भोजन करते हुए देखा था। उसने लिखा है कि भोजन ग्रहण करते समय वे बिल्कुल शान्त रहते थे तथा आवश्यकतानुसार भोजन के लिए हाथ से इशारा करते थे, मुँह से नहीं माँगते थे।[४] बौद्ध संघ में भोज का प्रचलन बुद्ध के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। निमन्त्रण पाकर संघ के सदस्य (भिक्षु-भिक्षुणी) उपासक के यहाँ एकत्रित होकर भोजन करते थे।

गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन सुस्वादु हो अथवा स्वाद-रहित, भिक्षा का सम्मान करते हुए ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। भिक्षा कैसी

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी सेखिय, ३२-३३.
२. वही, ३५-४०.
३. वही, ४१-५६.
४. Buddhist Records of the Western World, Vol. I. P. 27.

भी हो, वह उसे लेने से अस्वीकार नहीं कर सकती थी।[१] उसे यह शिक्षा दी गयी थी कि वह आहार के प्रति समभाव रखे। भिक्षा ग्रहण करते समय उसे अपने पात्र की तरफ ही देखने को कहा गया था तथा साथ ही यह भी निर्देश दिया गया था कि गृहीत पदार्थ भिक्षा-पात्र के ऊपर उठा हुआ न रहे—बल्कि भिक्षा-पात्र के अन्दर ही रहे।[२] गृहीत पदार्थ यदि आवश्यकता से अधिक प्राप्त हो गया हो तो उसे दूसरी भिक्षुणियों के साथ मिलकर खाने का विधान था।[३]

भोजन के लिए बैठने का नियम

भिक्षुणी यदि समूह के साथ भोजन करती थी तो पंक्ति में आने के क्रम के अनुसार अपना स्थान ग्रहण करती थी। इसका उल्लेख फाहियान ने खोतान के भिक्षुओं के सन्दर्भ में किया है, जहाँ वे भोजन के लिए एक भोजनशाला (घण्टा) में उपस्थित होते थे।[४] भोजन कर लेने के उपरान्त भिक्षुणियाँ एक साथ आपस में बातें करने लगती थीं जिससे कोलाहल सा मच जाता था। इसके निवारण के लिए भी बौद्ध-संघ में नियम बने थे जिसके अनुसार आठ भिक्षुणियों को अपनी ज्येष्ठता के अनुसार उठना था तथा शेष भिक्षुणियों को आने के क्रम के अनुसार। परन्तु ये नियम सर्वदा नहीं लागू होते थे और आवश्यकतानुसार ज्येष्ठता का ध्यान रखे बिना भी उठा जा सकता था।[५]

तुलना : दोनों संघों में भिक्षुणियों का भोजन सादा एवं सात्विक होता था। भोजन की शुद्धता का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। साथ ही यह भी ध्यान रखा जाता था कि भिक्षु-भिक्षुणियों के भोजन का भार समाज के किसी एक व्यक्ति अथवा एक वर्ग विशेष पर न पड़े। अतः भिक्षु-भिक्षुणियों को यह निर्देश दिया गया था कि वे धनी-निर्धन, ऊँच-नीच, वर्ण-जाति आदि का भेद किये बिना सबके यहाँ से भोजन प्राप्त करें। गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन सुस्वादु हो या स्वादरहित–दोनों संघों के भिक्षु-भिक्षुणियों को सत्कारपूर्वक ग्रहण करने का निर्देश दिया गया

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी सेखिय, २७.
२. वही, २८-३०.
३. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, ११९.
४. Buddhist Records of the Western World, Vol. I. p. 26
५. चुल्लवग्ग, पृ० ३९१; भिक्षुणीविनय, § २९२.

था। भोजन के स्वाद-रहित होने पर उसकी निन्दा करना अपराध माना जाता था क्योंकि भोजन का मूल उद्देश्य स्वाद प्राप्त करना नहीं अपितु केवल जीवन-निर्वाह करना था।

दोनों संघों में भोजन की शुद्धता का विशेष ध्यान रखा जाता था। विशेष रूप से जैन संघ में इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था। यहाँ भोजन की शुद्धता परखने के ४२ नियम थे। शुद्धता की जितनी परख जैन संघ में की जाती थी, उतनी बौद्ध संघ में निश्चय ही नहीं थी। उदाहरणस्वरूप-जैन ग्रन्थों के अनुसार उद्देश्यपूर्वक बनाया हुआ भोजन लेना भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए निषिद्ध था—जबकि बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए ऐसा कोई निषेध नहीं था। धनी उपासकों तथा राजाओं द्वारा भोजन का निमन्त्रण देने पर स्वयं बुद्ध तथा उनके भिक्षु-भिक्षुणियों के जाने के बहुशः उल्लेख हैं।

दोनों ही संघों में रात्रि-भोजन अग्रहणीय था। रात्रि-भोजन के निषेध का सबसे प्रमुख कारण अहिंसापरक दृष्टिकोण था। रात्रि में सूक्ष्मजीवों को देख पाना सम्भव नहीं था अतः रात्रि-भोजन करने से हिंसा की सम्भावना थी। इसी कारण मध्याह्न के पहले ही उन्हें भोजन कर लेने का निर्देश दिया गया था।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि आहार के सम्बन्ध में दोनों संघों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं था। जो अन्तर था वह दोनों के दृष्टिकोण को लेकर ही था। जैन संघ अति कठोरता में विश्वास करता था जबकि बौद्ध संघ मध्यम मार्गी था और वह कुछ परिस्थितियों में अपने सदस्यों को छूट देता था।

वस्त्र सम्बन्धी नियम

जैन भिक्षुणी के वस्त्र सम्बन्धी नियम : प्राचीन जैन ग्रन्थों में भिक्षु के वस्त्र-रहित (निर्वस्त्र) रहने की प्रशंसा की गयी है। उत्तराध्ययन[1] से स्पष्ट है कि महावीर ने निर्वस्त्र रहने का उपदेश दिया था तथा अपने जीवन में इसका पूर्णतया पालन किया था। अचेलकत्व के सन्दर्भ में जैन धर्म का दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर रहा है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो बिना अचेल (नग्न) हुए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। परन्तु इस कठोर दृष्टिकोण के बावजूद श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में निर्वस्त्रता का पूर्णतया पालन सम्भव न हो सका। अचेलकत्व का

१. उत्तराध्ययन, २३/१३.

समर्थन अपरिग्रह के सम्बन्ध में किया गया था। अर्थात् भिक्षु-भिक्षुणियों को यह शिक्षा दी गयी थी कि वे अपने मन में वस्त्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की लिप्सा की भावना न आने दें। वस्त्र के सम्बन्ध में भिक्षु या भिक्षुणी को लोलुप नहीं होना चाहिए। यही इसकी मूल भावना थी परन्तु बाद में इस पर रूढ़िवादिता का जामा पहना दिया गया।

जहाँ तक साध्वियों के अचेलकत्व का प्रश्न है—इसका कभी भी समर्थन नहीं किया गया।[1] उत्तराध्ययन निर्युक्ति[2] में आचार्य शिवभूति की बहन भिक्षुणी उत्तारा का उल्लेख मिलता है जिसने अपने भिक्षु भाई की तरह अचेलक व्रत का पालन करना चाहा परन्तु सामाजिक अपवाद के डर से वह इसका पालन न कर सकी और वस्त्र पहनने को विवश हुई। श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रंथ आचारांग से लेकर बाद के परवर्ती ग्रन्थों तक में वस्त्र सम्बन्धी अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा में ऐसे विस्तृत नियमों का अभाव है परन्तु भिक्षुणी के सम्बन्ध में दिगम्बर सम्प्रदाय भी वस्त्र-धारण करने का विधान करता है।

उपयुक्त वस्त्र : जैन भिक्षुणी निम्न पाँच प्रकार के पदार्थों से निर्मित वस्त्र को धारण कर सकती थी।[3]

(१) जांगमिक—भेड़ आदि के ऊन से निर्मित वस्त्र
(२) भांगिक—अलसी आदि के छाल से निर्मित वस्त्र
(३) सानक—सन (जूट) से निर्मित वस्त्र
(४) पोतक—कपास से निर्मित वस्त्र
(५) तिरीटपट्ट—तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से निर्मित वस्त्र

चमड़े से निर्मित वस्त्र को धारण करना चाहे वह रोमयुक्त हो या रोमहीन, भिक्षु-भिक्षुणियों दोनों के लिए निषिद्ध था।[4] यद्यपि कुछ विशेष परिस्थितियों में भिक्षु को इसको धारण करने की अनुमति दी गयी है।[5] परन्तु भिक्षुणियों को चमड़े का वस्त्र धारण करना सर्वथा वर्जित था।[6]

१. नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए—बृहत्कल्प सूत्र, ५/१९.
२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, पृ० १८१.
३. बृहत्कल्प सूत्र, २/२९,
४. वही ३/३.
५. वही, ३/४.
६. आचारांग, २/५/१/५-६.

बृहत्कल्प भाष्यकार ने भिक्षुणियों के लिए सर्वथा निषेध का कारण बताते हुये कहा है कि चमड़े पर बैठने से भिक्षुणियों के मन में गृहस्थ-जीवन में उपयोग की गयी कोमल शय्या की याद आ जायेगी—फलस्वरूप उनमें आचारिक शिथिलता का होना सम्भव है।[१]

वस्त्र-ग्रहण करने के सम्बन्ध में भिक्षुणी को कुछ अन्य मर्यादाओं का पालन करना पड़ता था। जैसे, भिक्षुणी के लिए वस्त्र यदि जीवों आदि की हिंसा करके बनाया गया हो, ख़रीदा गया हो, धोया गया हो, रंगा गया हो, साफ किया गया हो अथवा सुगन्धित किया गया हो—तो ऐसा वस्त्र उसके लिए अग्रहणीय था।[२] इसी प्रकार उसे अधिक मूल्य वाले अथवा कपास आदि के महीन वस्त्रों को भी लेने का निषेध किया गया था। इसी प्रकार किसी जीव-जन्तुओं से युक्त वस्त्र को भिक्षुणी लेने से अस्वीकार कर सकती थी।[३] इसके अतिरिक्त वस्त्र यदि लम्बाई-चौड़ाई में पर्याप्त न हो, बहुत पुराना हो चुका हो, पहनने योग्य न हो या दाता अरुचि से देता हो तो ऐसे वस्त्र को ग्रहण करना उसके लिए सर्वथा वर्जित था।[४]

वस्त्रों की संख्या : सामान्य रूप से जैन भिक्षुणियों को चार वस्त्र (चत्तारि संघाडीओ) रखने का विधान था।[५] इनमें से एक दो हाथ की, दो तीन हाथ की और एक चार हाथ के विस्तार की होना चाहिए। उसे यह निर्देश दिया गया था कि जब वह भिक्षा-वृत्ति के लिए या स्वाध्याय के लिए जाय अथवा सामान्य रूप से एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाय तो वह सभी वस्त्रों को साथ लेकर जाय।[६]

बृहत्कल्पसूत्र[७] में भिक्षुणी के गुप्तांग को ढंकने के लिए दो वस्त्रों का विधान किया गया है।

(१) उग्गहणन्तगं

(२) उग्गहपट्टगं

---

१. बृहत्कल्प भाष्य, चतुर्थ भाग, ३८१०-११.

२. आचारांग, २/५/१/३-४.

३. वही, २/५/१/१३.

४. वही, २/५/१/१४.

५. वही, २/५/१/१.

६. वही, २/५/२/२.

७. बृहत्कल्प सूत्र, ३/१२.

बृहत्कल्पभाष्य तथा ओघनिर्युक्ति भिक्षुणी के लिए ग्यारह वस्त्रों का विधान करते हैं जिनमें छः शरीर के निचले हिस्से को ढँकने के लिए तथा पाँच शरीर के ऊपरी हिस्से को ढँकने के लिए पहने जाते थे।

शरीर के निचले भाग वाले वस्त्र

१. **उग्गहणन्तग**[1] : यह वस्त्र भिक्षुणी के गुप्तांग को ढँकने के लिए होता था तथा इसका आकार नाव की तरह बीच में चौड़ा तथा दोनों किनारों पर पतला होता था।

२. **उग्गहपट्टग**[2] : यह प्रथम वस्त्र उग्गहणन्तग को ढँकने के लिए पहना जाता था। इसकी तुलना कमर में पहनी जाने वाली मल्लों (पहलवानों) की लंगोटी से की गयी है (कडिबंधो मल्लकच्छा वा)।

३ **अड्ढोरुग**[3] : यह भी कमर पर पहना जाता था जो उक्त दोनों वस्त्रों को ढँक लेता था।

४. **चलणी**[4] : यह बिना सिली हुई रहती थी तथा जानु (घुटनों) तक आती थी (जाणुपमाणा)।

५. **अन्तोनियंसणी**[5] : यह वस्त्र कमर से लेकर आधी जाँघ तक रहता था (अद्धजंघाओ)।

६. **बहिनियसणी**[6] : यह वस्त्र कमर से लेकर एड़ी तक ढँकता था (कडी य दोरेण पडिबद्धा)।

शरीर के ऊपरी भाग वाले वस्त्र

१. **कंचुक**[7] : यह स्तन को ढंकता था तथा बिना सिला रहता था (असीवियो)। भिक्षुणी के शरीर के अनुसार यह विभिन्न नापों का होता था।

२. **ओकच्छिय**[8] : यह कंचुक जैसा ही रहता था तथा दाहिने कन्धे की तरफ बाँधा जाता था।

---

१. ओघनिर्युक्ति, ३१३.
२. वही, ३१४.
३. वही, ३१५.
४. वही, ३१५.
५. वही, ३१६.
६. वही, ३१६.
७. वही, ३१७.
८. वही, ३१७.

३. वेकच्छिय[१] : यह वस्त्र उक्त दोनों को ढँकता था।

४. संघाडी[२] : संघाडी संख्या में चार होती थी। उनमें से एक दो हाथ की होती थी। दो, तीन-तीन हाथ की होती थी तथा इसको भिक्षा-याचना तथा आराम करने के समय पहना जाता था (भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे)। चौथा वस्त्र चार हाथ का होता था और सामान्य रूप से इसे प्रवचन-सभाओं में पहना जाता था (णिसन्नपच्छायणी मसिणा)

५. खंधकरणी[३] : यह भी लम्बाई में चार हाथ का होता था (चउ-हत्थवित्थडा)। वैसे तो इसका प्रमुख रूप से उपयोग तेज हवा से बचने के लिए होता था (वायविहुयरक्खट्ठा), परन्तु इसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य सुन्दर भिक्षुणियों को नाटीपन दीखाने के लिए होता था (खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेउं)। रूपवती साध्वी को देखकर दुष्ट पुरुषों के मन में दूषित भावनाएँ जन्म ले सकती हैं, अतः कुरूप प्रदर्शित करने के लिए भिक्षुणी के पीठ पर वस्त्रों की एक पोटली सी बाँध देते थे जिससे वह कुबड़ी सी दीखने लगे।

वस्त्र-गवेषणा सम्बन्धी नियम

संघ के नियमानुसार साध्वी वस्त्र की अपेक्षा में आधे योजन तक जा सकती थी, उसके आगे नहीं।[४] भिक्षुणियों के लिए प्रथम समवसरण-काल (अर्थात् आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक) में वस्त्र-ग्रहण करना वर्जित था। वे द्वितीय समवसरणकाल (अर्थात् मार्ग-शीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा तक) में ही वस्त्र (या अन्य उपकरण) ग्रहण कर सकती थीं।[५] स्पष्ट है कि भिक्षु-भिक्षुणियों को वर्षाकाल में वस्त्र-ग्रहण करना निषिद्ध था।

याचना के समय तुरन्त प्राप्त वस्त्र ही ग्रहणीय था। याचना करने पर दाता यदि किसी निश्चित दिन अथवा समय पर वस्त्र देने को कहे तो इस प्रकार का वस्त्र ग्रहण करना भिक्षुणी के लिए निषिद्ध था।[६] दाता यदि वस्त्र को सुगन्धित कर या ठंडे अथवा गरम जल से धोकर दे तो ऐसा वस्त्र भी वह नहीं ले सकती थी। वस्त्र लेने के पहले साध्वी को यह

---

१. ओघनिर्युक्ति, ३१८.
२. वही, ३१९.
३. वही, ३२०.
४. आचारांग, २/५/१/२.
५. बृहत्कल्प सूत्र, ३/१६.
६. आचारांग, २/५/१/८.

निर्देश दिया गया था कि वह वस्त्र का भली-भाँति निरीक्षण कर ले कि वस्त्र में कहीं मूल्यवान धातु (सोना, चाँदी, रुपया) तो नहीं है।[1] भिक्षुणी को रात्रि में या सन्ध्याकाल में वस्त्र की गवेषणा करने का निषेध किया गया था, परन्तु यदि वह वस्त्र हृताहृतिका (हरियाहडियाए) हो तो उस वस्त्र को ले लेने का विधान था, भले ही वस्त्र को धोकर, रंगकर या मुलायम बनाकर रखा गया हो।[2] हृताहृतिका वस्त्र उसको कहते हैं जिस वस्त्र को चोर आदि छीन या चुरा लिए हों और बाद में वे उस वस्तु को वृक्ष या झाड़ी पर डाल दें—ऐसे वस्त्र को ग्रहण करने में कोई निषेध नहीं था।

भिक्षुणी गृहस्थों से वस्त्र प्राप्त करने में अत्यन्त सतर्कता का पालन करती थी। वह दाता के मनोभावों का सूक्ष्मता से अध्ययन कर ही वस्त्र ग्रहण करती थी। यदि कोई गृहस्थ वस्त्र देने की इच्छा प्रकट करे, तो भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह सागारकृत करके ही वस्त्र ले (सागारकडं गहाय) तथा प्रवर्त्तिनी की अनुमति मिलने पर ही उसे अपने उपयोग में लावे[3] अर्थात् यदि गृहस्वामी वस्त्र-पात्र दे तो साध्वी को यह कहकर लेना चाहिए कि आचार्य इसे रखेंगे अथवा मुझे या अन्य साध्वी को देंगे तो रखा जायेगा अन्यथा ये वस्त्र-पात्र आदि लौटा दिये जायेंगे। इस प्रकार से कहकर गृहस्वामी से वस्त्र-पात्र आदि ग्रहण करने को "सागारकृत" कहते हैं। इस सन्दर्भ में वह दाता से तीन प्रश्न पूछती थी—(१) यह वस्त्र किसका है ? और (२) कैसा है ? दोनों का सन्तोषजनक उत्तर मिलने पर वह अन्तिम प्रश्न करती थी (३) कि यह मुझे क्यों दिया जा रहा है ? इन तीनों प्रश्नों का सम्यक् उत्तर पाकर ही वह वस्त्र को लेती थी—अन्यथा नहीं। साध्वी के द्वारा लाये गये वस्त्र को प्रवर्त्तिनी एक सप्ताह तक अपने पास रखती थी तथा उसका भली प्रकार निरीक्षण करती थी कि वस्त्र किन्हीं दोषों से युक्त तो नहीं है। वस्त्र के असंदिग्ध होने पर वह लाने वाली साध्वी को अथवा उसकी आवश्यकता न रहने पर दूसरी साध्वी को देती थी। प्रवर्त्तिनी इसका भी ध्यान रखती थी कि वस्त्रदाता युवा, विधुर अथवा दुराचारी व्यक्ति तो नहीं है और साध्वी (जिसे दिया गया है) युवती और नवदीक्षता तो

---

१. आचारांग, २/५/१/१२.
२. बृहत्कल्पसूत्र, १/४५.
३. वही, १/४२-४३.

नहीं है। यदि इनमें से कोई भी कारण दृष्टिगोचर होता था तो वह वस्त्र को तुरन्त वापस कर देती थी। भाष्यकार ने इतनी सूक्ष्म परीक्षा का कारण यह बताया है कि स्त्रियाँ शीघ्र ही प्रलोभन में आ जाती हैं तथा धैर्यहीन होती हैं, अतः भिक्षुणियों के ब्रह्मचर्य-स्खलन की पूरी सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त साध्वी द्वारा इस प्रकार वस्त्र को लाते हुए देखकर नवदीक्षिता के मन में प्रलोभन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। इसका एक और कारण यह बताया गया है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता मिलने पर भिक्षुणियों में वस्त्र लाने की प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो जाती। भाष्यकार के अनुसार इसका सर्वोत्तम मार्ग यह है कि साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वयं वस्त्र न ले, अपितु उसके वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति आचार्य, उपाध्याय अथवा प्रवर्त्तिनी करें। ये स्वयं गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लावें और सम्यक् परीक्षा के पश्चात् साध्वो को उपयोगार्थ दें।[1]

वस्त्र का रंग : प्राचीन आगम ग्रन्थों में वस्त्र के रंग के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु गच्छाचार आदि परवर्ती ग्रन्थों में भिक्षु-भिक्षुणियों को श्वेत वस्त्र ही धारण करने की अनुमति दी गई है।[2]

साथ ही उसे यह निर्देश दिया गया था कि वह पुराने वस्त्र को नया तथा नये वस्त्र को पुराना न करे, इसी प्रकार सुगन्धयुक्त वस्त्र को दुर्गन्धयुक्त अथवा दुर्गन्धयुक्त वस्त्र को सुगन्धयुक्त न करे।[3] उसे वस्त्र के सम्बन्ध में निरपेक्ष दृष्टिकोण रखने की सलाह दी गई थी।

जैन भिक्षु-भिक्षुणियों को वस्त्र धोना निषिद्ध था। वस्त्र गन्दा हो जाने पर भी उसे साफ-सुथरा दीखने के लिए शीतल या गर्म जल से धोना मना था।[4] नदी पार करते समय अथवा वर्षा में भीग जाने पर अथवा किसी अन्य कारणवश वस्त्र के भीग जाने पर यदि उसे सुखाने की आवश्यकता पड़े तो बहुत सावधानी बरतनो पड़ती थी। सावधानोपूर्वक जीव-रहित भूमि का सूक्ष्म निरीक्षण कर भोगे वस्त्र को फैलाने का विधान था।[5] उसे यह निर्देश दिया गया था कि ऊँचे खम्भे पर, दरवाजे पर, दीवाल

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २८०४-३५.
२. गच्छाचार, ११२.
३. आचारांग, २/५/१/१६-१८.
४. वही, २/५/१/१६-१८.
५. वही, २/५/१/९-२३.

पर, शिला पर, वृक्ष के तने पर या महल की छत आदि पर भीगे वस्त्र न फैलावे।[1]

यदि इन निषेधों का अवलोकन करें तो हमें इन सारे नियमों में जैन धर्म का अहिंसावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। किसी भी परिस्थिति में सूक्ष्म जीव की हत्या न हो—इसका विशेष ध्यान रखा जाता था।

यदि साध्वी से वस्त्र खो जाय तो उसे दूसरा वस्त्र लेना निषिद्ध था। इसी प्रकार उसे एक वस्त्र के बदले दूसरा वस्त्र बदलने की अनुमति नहीं थी।[2] सुन्दर वस्त्र के खो जाने अथवा उसके चुरा लिए जाने के भय से वस्त्र को विकृत करना निषिद्ध था। इसके अतिरिक्त दूसरा वस्त्र पाने की लालच में अपने वस्त्र को उधार देना दण्डनीय था।[3] यात्रा के लिए या भिक्षावृत्ति के लिए जाते समय चोर या डाकू यदि वस्त्र छीनने का प्रयत्न करें तो भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह वस्त्र को सावधानी-पूर्वक जमीन पर रख दे। वस्त्र सुरक्षित रखने की लालच में वह न तो चोर या डाकू की प्रशंसा करे और न उसके हाथ-पैर जोड़े। साध्वी को यह भी सलाह दी गयी थी कि वह इस घटना की चर्चा किसी गृहस्थ अथवा राज्याधिकारी से न करे।[4]

जैन भिक्षुणी की अन्य आवश्यक वस्तुएँ

भिक्षुणियों को ११ प्रकार के वस्त्र के अतिरिक्त १४ अन्य प्रकार के उपकरण रखने की अनुमति दी गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पर-वर्तीकाल में उनकी आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ही उनके उपकरणों में भी वृद्धि होती गई। बृहत्कल्पभाष्य तथा ओघनिर्युक्ति में भिक्षु-णियों के निम्न १४ प्रकार के उपकरणों के उल्लेख हैं।[5]

(१) पत्त (पात्र), (२) पत्ताबंध (पात्रक बंध), (३) पायठ्ठवणं (पात्रस्था-पन), (४) पायकेसरिया (पात्रकेसरिका), (५) पडलाइं (पटलानि), (६)

---

१. आचारांग, २/५/१/२०-२२.
२. वही, २/५/२/३.
३. वही, २/५/२/६.
४. वही, २/५/२/७-८.
५. ओघनिर्युक्ति, ६६९-७१; बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४०८०-८३.

रयत्ताणं (रजस्त्राण), (७) गोच्छअ (गोच्छक), (८-१०) पच्छाया (तीन प्रच्छादक) (११) रयोहरण (रजोहरण), (१२) मुहपोत्ति (मुँहपत्ती) (१३ मत्तए (मात्रक), (१४) कमढए (कमठक)।

उपर्युक्त २५ उपकरणों तथा उनकी अन्य आवश्यक वस्तुओं को तीन कोटियों—उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य—में विभाजित किया गया था।[1] उत्कृष्ट आवश्यकता में आठ वस्तुएँ थीं—तीन वस्त्र, भिक्षा-पात्र, अभ्यन्तर-निवसिनी, बहिर्निवसिनी, संघाटिका, स्कन्धकरणी। मध्यम आवश्यकता में १३ वस्तुएँ थीं—रजोहरण, पटलकानि, पात्रक-बन्ध, रजस्त्राण, मात्रक, कमठक अवग्रहानन्तक, पत्त, अर्धोलक, कंचुक, चलनिका, औपकक्षिकी, वैकक्षिकी। जघन्य आवश्यकता में चार वस्तुएँ थीं—मुखपोतिका, पात्र-केसरिका, गोच्छक, पात्रस्थापन। इसके अतिरिक्त भी उन्हें सूची (सूई), नखहरणी, कर्णशोधनी, दन्तशोधनी, चिलमिलिका, पादलेखनिका आदि उपकरण रखने का विधान था।[2]

दिगम्बर भिक्षुणी के वस्त्र सम्बन्धी नियम

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मुनि को निर्वस्त्र रहना चाहिए। इसके अनुसार वस्त्रधारी पुरुष मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता भले ही वह तीर्थंकर क्यों न हो।[3] इसी आधार पर इस सम्प्रदाय में स्त्री-मुक्ति की अवधारणा का निषेध किया गया। शारीरिक रचना तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण भिक्षुणी के लिए यह सम्भव न था कि वह निर्वस्त्र रहे। इसी कारण भिक्षुणी को एक वस्त्र धारण करने का निर्देश दिया गया था, जिसे वह आहार ग्रहण करते समय भी धारण किये रह सकती थी।[4]

दिगम्बर भिक्षुणी को अन्य आवश्यक वस्तुएँ

दिगम्बर भिक्षुणियों के वस्त्र के अतिरिक्त पात्र आदि रखने के सम्बन्ध में क्या नियम थे—इसकी स्पष्ट सूचना नहीं प्राप्त होती। दिगम्बर

---

१. वृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४०९५.
२. वही, भाग चतुर्थ, ४०९६-९८.
३. सुत्तपाहुड़, २३.
४. वही, २२.

भिक्षुओं को पाणिपात्र बताया गया है। उन्हें हाथ में ही भिक्षा लेकर ग्रहण करने का विधान था। सम्भवतः भिक्षुणियों को भी भिक्षु के समान भिक्षा-पात्र रखना निषिद्ध था। यद्यपि शरीर-शुद्धि के लिए जल-ग्रहण हेतु वे कमण्डलु रख सकती थीं। भिक्षु-भिक्षुणियों को रजोहरण (पिच्छि) रखने की अनुमति दी गई थी। मोर के पंख का रजोहरण उत्तम माना जाता था।

बौद्ध भिक्षुणी के वस्त्र सम्बन्धी नियम

जैन संघ के समान बौद्ध संघ में भी वस्त्र के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्कता बरती जाती थी। भिक्षुणियाँ और भी सावधानी रखती थीं। इसका प्रमुख कारण उनकी शारीरिक भिन्नता थी, जिसके प्रति उन्हें सचेत रहना पड़ता था। यदि असावधानी के कारण भी वक्षस्थल या रजस्वला-काल में वस्त्र पर रक्त के धब्बे दिखायी पड़ जाते थे, तो समाज के लोग उनकी हँसी उड़ाते थे। इसीलिए उसे यह निर्देश दिया गया था कि गाँव या नगर में जाते समय वह शरीर को भली-भांति ढँक कर जाय।[2] बिना कंचुक गाँव में जाना उसके लिए निषिद्ध था।[3]

उपयुक्त वस्त्र : बौद्ध संघ में भिक्षु-भिक्षुणियों को छः प्रकार के वस्तुओं से निर्मित वस्त्र (चीवर) को धारण करने की अनुमति थी।[4]

१. खोम—क्षौम से निर्मित वस्त्र
२. कप्पासिकं—कपास से निर्मित
३. कोसेय्य—कौशेय से निर्मित
४. कम्बल—ऊन से निर्मित
५. साण—सन से निर्मित
६. भंग—अलसी आदि की छाल अथवा उक्त पाँचों के मिश्रण से निर्मित[4]

वस्त्र की संख्या : प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को केवल तीन प्रकार के वस्त्र धारण करने का विधान था। (१) संघाटी, (२) उत्तरा-

१. सुत्तपाहुड़, १०-१३; मूल.चार, ५/१२२.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी सेखिय, १; पाचित्तिय पालि, पृ० ४७८.
३. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, ९६; पाचित्तिय पालि, पृ० ४७९-८०.
४. महावग्ग, पृ० २९८; पाचित्तिय पालि, पृ० ४९०.

संग, (३) अन्तरवासक[१]। संघाटी दो परतों की, उत्तरासंग एक परत को तथा अन्तरवासक एक परत का होता था। परन्तु यह नियम नये कपड़े पर लागू होता था और यदि वस्त्र पुराना होता था तो संघाटी चार स्तर की, उत्तरासंग तथा अन्तरवासक दो-दो स्तर के होते थे तथा कपड़ा यदि चीथड़ा (पंसुकूल) होता था तो उस पर आवश्यकतानुसार स्तर दिया जा सकता था।[२]

कालान्तर में आवश्यकतानुसार अन्य वस्त्रों को भी धारण करने की अनुमति दी गयी। भिक्षुणियों को कंचुक धारण करना अनिवार्य था। इसे संकच्छिका कहा गया है।[३] जनापवाद के कारण संकच्छिका के ऊपर गण्डप्रतिच्छादन[४] नामक वस्त्र धारण करने का विधान बनाया गया। यह संकच्छिका के ऊपर पहना जाता था जो उसे कसे रहता था।

ऋतुकाल की अवस्था में भिक्षुणियों को विशेष सावधानी बरतनी पड़ती थी। इस समय के लिए अलग से कुछ और वस्त्रों का विधान किया गया था। ऋतुकाल के समय उन्हें आवसत्थचीवर तथा अणिचोल[५] (रक्तशोधक) नामक वस्त्र को धारण करने की अनुमति दी गयी थी। इसके अतिरिक्त इनको सूत से कस कर बाँधने की सलाह दी गयी थी, परन्तु इन वस्त्रों का उपयोग केवल ऋतुकाल में ही किया जा सकता था, सर्वदा नहीं।

शरीर के निचले हिस्से (गुप्तांग) को ढँकने के लिए कच्छी या लंगोट को धारण करने का विधान था। इसका परिमाप चार बालिस्त लम्बा तथा दो बालिस्त चौड़ा होता था। इससे बड़ा या छोटा पहनने पर पाचित्तिय दोष लगता था।[६]

दैनिक आवश्यकताओं के उपयोग हेतु भी कुछ अन्य वस्त्रों का विधान था—जैसे पच्चत्थरण (बिछौने का चादर), कण्डुपटिच्छादन (खुजली, फोड़ा आदि रोग होने पर), मुखपुञ्छन (मुँह पोंछने वाला वस्त्र-

---

१. महावग्ग, पृ० ३०५.
२. वही, पृ० ३०६.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ९६; भिक्षुणी विनय, § २६३.
४. वही, § २७७.
५. वही, § २६८.
६. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १६५.

रूमाल आदि), परिक्खारचोलक (थैले आदि की तरह का वस्त्र) तथा उदकशाटिका[1] (भिक्षुणियों के नहाने का वस्त्र) आदि।

अनुपयुक्त वस्त्र : भिक्षुणियों को लाल, मजीठ, काले तथा हल्दी रंग से रंगे वस्त्र धारण करने की अनुमति नहीं थी[2]। उनके लिए कटी किनारी वाले, लम्बी किनारी वाले, फूलदार किनारी वाले या सर्प के फन के आकार की किनारी वाले वस्त्रों को धारण करना निषिद्ध था।[3] ऐसा वस्त्र पहनने पर उन्हें दुक्कट के दण्ड का भागी बनना पड़ता था। सुन्दर दिखने के लिए वे लम्बा कमरबन्द नहीं धारण कर सकती थीं तथा कमरबन्द में पूँछ भी नहीं लटका सकती थीं।[4]

वस्त्र गवेषणा सम्बन्धी नियम

बौद्ध संघ में भी भिक्षुणियों को वस्त्र ग्रहण करने में अत्यन्त सतर्कता रखनी पड़ती थी। यदि वस्त्र-दाता की भावना अच्छी नहीं रहती थी, तो वे वस्त्र लेने से इन्कार कर देती थीं।

यद्यपि प्रारम्भ में उपसम्पदा के समय भिक्षुणियों को जो तीन निश्रय बताए जाते थे, उनमें उन्हें फटे-चीथड़े वस्त्र (पंसुकूलचीवर) धारण करने का निर्देश दिया गया था।[5] लेकिन साथ ही उपासकों द्वारा भी भिक्षु-भिक्षुणियों को बड़ी मात्रा में वस्त्र लेने की अनुमति प्रदान कर दी गयी।[6] उदाहरणस्वरूप-प्रसिद्ध उपासिका विशाखा ने भिक्षुणियों को उदकशाटिका (नहाने का वस्त्र) वस्त्र प्रदान किया था।[7] काशी नरेश ने जीवक की सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्हें ५०० कम्बल प्रदान किये थे, उन सभी कम्बलों को जीवक ने संघ के उपयोगार्थ बुद्ध को समर्पित कर दिया।[8] महावंस से ज्ञात होता है कि सिंहल में विहार की प्रतिष्ठा के समय भिक्षु-भिक्षुणियों को अन्न-वस्त्र दिया जाता था। लंजतिस्स ने अरिट्ठविहार और

---

१. महावग्ग, पृ० ३०६; भिक्षुणी विनय, § १८९.
२. चुल्लवग्ग, पृ० ३८७.
३. वही, पृ० ३८७-३८८.
४. वही, पृ० ३८६.
५. महावग्ग, पृ० ५५.
६. वही, पृ० २९७.
७. वही, पृ० ३०६.
८. वही, पृ० २९८.

कुंजरहीनक विहार बनवाकर भिक्षुओं को दवाएँ तथा भिक्षुणियों को यथेच्छ चावल दिया था।[1] इसी प्रकार सिंहल-नरेश महातिस्स ने नगर के ३०,००० भिक्षुओं तथा १२,००० भिक्षुणियों को चीवर प्रदान किये थे। एक विहार बनवाने के बाद उस राजा ने ६०,००० भिक्षु और ३०,००० भिक्षुणियों को पुनः वस्त्र प्रदान किये।[2] इस अवसर पर भिक्षु-भिक्षुणियों को ६ वस्त्र देने का उल्लेख है अर्थात् प्रत्येक भिक्षु-भिक्षुणी को अन्तरवासक, उत्तरासंग तथा संघाटी का एक-एक जोड़ा दिया गया था।

संघ में चीवर-प्रदान करने की विधि

बौद्ध संघ में वस्त्र को चोवर के नाम से जाना जाता था। संघ में भिक्षु-भिक्षुणियों को वस्त्र-प्रदान करने का जो समारोह किया जाता था, उसे कठिन कहते थे। संघ में चूँकि वस्त्र-प्रदान बड़े पैमाने पर किया जाता था, अतः उसके प्रबन्ध के लिए कई पदाधिकारियों को नियुक्त किया गया था। दान दिये गये वस्त्र को संघ की तरफ से जो ग्रहण करता था उसे 'चीवर-पटिग्गाहक'' कहते थे। इस पद का चुनाव संघ की अनुमति से होता था तथा वही व्यक्ति चुना जाता था जो द्वेष, मोह तथा भय से रहित हो तथा जो स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का न हो। प्राप्त किये गये वस्त्र का जो प्रबन्ध करता था उसे ''चीवर-निदहक'' कहते थे। वस्त्र जिस कोठरी में रखा जाता था उसे ''भण्डागार'' तथा उसके रक्षक को ''भाण्डागारिक'' कहते थे। इन पदाधिकारियों में भी उपर्युक्त गुण का होना आवश्यक था। जो पदाधिकारी भिक्षु-भिक्षुणियों को वस्त्र बाँटता था उसे ''चीवर-भाजक'' कहते थे।[3] भिक्षु-भिक्षुणी आवश्यकता से अधिक प्राप्त वस्त्र को बिना प्रयोग किये अधिक से अधिक १० दिन तक अपने पास रख सकते थे। इस नियम का उल्लंघन करने पर उन्हें निस्सग्गिय पाचित्तिय का दण्ड भोगना पड़ता था।[4]

चीवर-काल : बौद्धसंघ में चीवर बाँटने का समय भी निर्धारित था। चीवर-काल आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक रहता था। कुछ लालची भिक्षुणियाँ चीवर-प्राप्ति की आशा कम होने से चीवर-काल की

---

१. महावंस, ३३/२७-२८.

२. वही, ३४/७-८.

३. महावग्ग, पृ० ३००-३०२.

४. पातिमोक्ख, भिक्खुनी निस्सग्गिय पाचित्तिय, १३.

अवधि का अतिक्रमण करती थीं, इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया था।[१]

कठिन का समारोह वर्षावास के पश्चात् (कार्तिक महीने में) किया जाता था (कठिने वस्सानस्स पच्छिमो मासो)[२]। कठिन के अवसर पर वस्त्र-प्राप्त होना सम्मान का द्योतक माना जाता था। कठिन चीवर उस भिक्षु या भिक्षुणी को प्रदान किया जाता था जिसके पास चीवरों की कमी हो, तथा जिसने वर्षावास सम्यक् रूप से व्यतीत किया हो। कठिन देने के लिए संघ की अनुमति ली जाती थी, अनुमति मिलने पर ही भिक्षु या भिक्षुणी को वह वस्त्र प्रदान किया जाता था, जिस वस्त्र की उसे सबसे अधिक आवश्यकता होती थी।[३]

वस्त्र का रंग : बौद्ध भिक्षुणियों का वस्त्र काषाय रंग का होता था। प्रारम्भ में भिक्षु गोबर (छकणेन) तथा पीली मिट्टी (पण्डुमत्तिक) से वस्त्र रंगते थे जिससे वस्त्र खराब हो जाते थे[४], अतः बुद्ध ने वस्त्र को छः प्रकार से रंगने की अनुमति दी थी।[५] (१) मूलरजन (जड़ से रंगना), (२) खन्दरजन (तनों से रंगना) (३) तचरजन (छाल से रंगना), (४) पत्तरजन (पत्तों से रंगना), (५) पुप्फरजन (पुष्पों से रंगना), (६) फल-रजन (फलों से रंगना)। वस्त्र का रंग पक्का रहना चाहिए, अतः रंग को पकाने का भी विधान था। रंग पकाने के लिए पात्र आदि रखने की अनुमति दी गयी थी। वस्त्र धोने के बाद उसे सुखाने के लिए बाँस और रस्सी के उपयोग की अनुमति दी गयी थी। परवर्तीकाल में बौद्ध संघ में कई भेद हुए, परन्तु वस्त्र की संख्या एवं उनके रंग में कोई परिवर्तन दृष्टि-गोचर नहीं होता, यद्यपि वस्त्र की माप कम या ज्यादा हो सकती थी। इसका उल्लेख ७वीं शताब्दी में आने वाले चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया है।[६]

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, २९; भिक्षुणी विनय, § २८८.
२. पाचित्तिय पालि, पृ० ३९१.
३. महावग्ग, पृ० २६६-६७.
४. वही. पृ० ३०२.
५. वही, पृ० ३०२-३०३.
6. The Sṛamas (Sramaṇas) have only three Kinds of robes, viz., the Sang-kio-ki, the Ni-fo-si-Na. The cut of the three robes is not the same, but depends on the school.

वस्त्र की स्वच्छता : वस्त्र की स्वच्छता का विशेष ध्यान रखा जाता था। वस्त्र को धोकर उसे बाँस या रस्सी के सहारे टाँगने की सलाह दी गयी थी। मासिक-धर्म सम्बन्धी आवसत्थचीवर नामक वस्त्र को तीन दिन के प्रयोग के पश्चात् चौथे दिन धो देने का विधान था, ताकि अन्य ऋतुमती भिक्षुणियाँ उसको उपयोग में ला सकें।[1] इसी प्रकार अणिचोल नामक वस्त्र को किसी एकान्त स्थान में धोने का निर्देश दिया गया था। ऐसे वस्त्र को स्त्री-तीर्थ, पुरुष-तीर्थ तथा रजक-तीर्थ अर्थात् पुरुषों, स्त्रियों एवं धोबियों के घाटों पर धोने का निषेध था।[2]

बौद्ध भिक्षुणियों की अन्य आवश्यक वस्तुएँ

बौद्ध भिक्षुणियों को भी वस्त्र के अतिरिक्त पात्र, सूची (सूई) आदि रखने का विधान था। अधिक पात्रों का संचय करना निषिद्ध था।[3] पुराना पात्र तभी हटाया जा सकता था, जब उसमें कम से कम पाँच जगह छेद हो गये हों[4]। इसी प्रकार भिक्षुणी को हड्डी या दाँत आदि की सूची-घर निर्मित करवाने की अनुमति नहीं थी।[5] बौद्ध भिक्षु को घड़ा, झाड़ू, नखच्छेदन (नहन्नी), कर्णमलहरणी (कनखोदनी), अंजनदानी तथा अंजनसलाई, दतवन (दन्तकट्ठ) आदि रखने की अनुमति दी गई है।[6]

Some have wide or narrow borders, others have small or large flaps, the Sang-Kio-Na covers the left shoulder and conceals the two armpits. It is worn open on the left and closed on the right. It is cut longer than the waist, the Ni-Fo-Si-Na has neither girdle nor tassels. When putting it on, it is plaited in folds and worn round the lions with a cord fastening. The schools differ as to the colour of this garment: Both yellow and red are used.

—Buddhist Record of the western world, Vol. II. p. 134.

१. पाचित्तिय पालि, पृ० ४१४.
२. भिक्षुणी विनय, §२६९, २७०, २७१.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी निस्सग्गिय पाचित्तिय, १.
४. वही, २४.
५. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, १६२.
६. महावग्ग, पृ० २१९-२२८.

इसी प्रकार उन्हें औषध रखने के लिए "भेसज्जत्थविक" तथा जूता रखने के लिए "उपाहनत्थविक" आदि का विधान किया गया था। ये व्यावहारिक जीवन में हमेशा प्रयोग की जाने वाली वस्तुएँ थीं। यद्यपि भिक्षुणियों के सन्दर्भ में इन वस्तुओं के रखने के स्पष्ट उल्लेख तो नहीं प्राप्त होते परन्तु भिक्षुणियों को भी इन वस्तुओं को रखने की अनुमति रही होगी, यह सहज अनुमान किया जा सकता है।

तुलना : दोनों संघों में वस्त्र सम्बन्धी नियमों के विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैनसंघ में अचेलकत्व की प्रशंसा की गयी है तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार बिना अचेलकत्व के मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती—तथापि भिक्षुणियों के सन्दर्भ में दोनों सम्प्रदाय वस्त्र धारण करने का विधान करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणी को एक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गयी है जबकि श्वेताम्बर ग्रन्थ आचारांग एवं ओघ-निर्युक्ति में भिक्षुणियों को एक से अधिक वस्त्र धारण करने का विधान किया गया है। बौद्धसंघ में अचेलकत्व का कभी भी अनुमोदन नहीं किया गया। निर्वस्त्र रहने पर भिक्षु को थुल्लच्चय दण्ड का प्रायश्चित्त करना पड़ता था। बौद्ध भिक्षुणियों को भिक्षावृत्ति या यात्रा के लिए जाते समय शरीर को पूरी तरह ढँककर जाने का निर्देश दिया गया था।

दोनों संघों में भिक्षुणियाँ दाता से वस्त्र-याचना के समय विशेष सतर्कता का ध्यान रखती थीं और दाता के मनोभावों का सूक्ष्मता से पता लगाकर ही वस्त्र ग्रहण करती थीं। बौद्धसंघ द्वारा कभी-कभी बड़ी मात्रा में वस्त्र ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। प्राप्त वस्त्र को भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य बाँटा जाता था। ऐसे वस्त्र को जो वर्ष में एक बार प्राप्त होता था, "कठिन" कहते थे। इस प्रकार के वस्त्र को वितरित करने के लिए संघ में कुछ पदों का भी निर्माण किया गया था--बौद्ध संघ की यह व्यवस्था जैन संघ में नहीं दिखायी पड़ती। उसमें अपरिग्रह महाव्रत के पालन के लिए आवश्यकता से अधिक वस्त्र रखना भिक्षु-भिक्षुणियों दोनों के लिए निषिद्ध था।

दोनों संघों में मूल्यवान वस्त्र को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। बेलबूटेदार या सुगन्धित वस्त्र अग्रहणीय था। जैनसंघ में भिक्षुणियों को वस्त्र धोने का निषेध था—इसके विपरीत बौद्धसंघ में वस्त्र धोने तथा उसे पक्के रंग से रंगने की अनुमति थी।

वस्त्र के रंग के सम्बन्ध में दोनों संघों में अन्तर द्रष्टव्य है। जैन भिक्षुणियों को श्वेत वस्त्र धारण करने का विधान था, जबकि बौद्ध भिक्षु-

णियाँ काषाय रंग का वस्त्र धारण करती थीं। प्राचीन जैन ग्रन्थों में जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के वस्त्र के रंग के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आचारांग में मात्र यह उल्लेख है कि भिक्षु-भिक्षुणी जो वस्त्र ग्रहण करें, उसे रंगें या धोयें नहीं। यद्यपि उससे परवर्ती ग्रन्थ गच्छायार पयन्ना (गच्छाचार) में स्पष्टरूप से श्वेतवस्त्र धारण करने का उल्लेख है। इसके विपरीत बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों को प्रारम्भ से ही काषाय रंग का वस्त्र धारण करने का विधान था। यहाँ यह भी अवलोकनीय है कि प्रारम्भ में दोनों संघों में भिक्षुणियों के वस्त्र एवं अन्य उपकरण अत्यन्त सीमित थे, परन्तु कालान्तर में क्रमशः उनमें वृद्धि होती गई।

■

तृतीय अध्याय

यात्रा एवं आवास सम्बन्धी नियम

यात्रा सम्बन्धी नियम

जैन भिक्षुणी के यात्रा सम्बन्धी नियम : अन्य नियमों की तरह यात्रा के सम्बन्ध में भी भिक्षु-भिक्षुणियों के नियम प्रायः समान थे। भिक्षुणियों को वर्षाकाल के चार महीने को छोड़कर शेष आठ महीने (ग्रीष्म तथा हेमन्त ऋतु में) एक ग्राम से दूसरे ग्राम (गामाणुगामं) विचरण करने का निर्देश दिया गया था।[1] उनकी इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य जन-सामान्य को धर्मोपदेश करना तथा स्थान-विशेष से अपनी आसक्ति तोड़ना होता था।

यात्रा के समय भिक्षुणी को अपने उपयोग से सम्बन्धित सभी आवश्यक उपकरणों को अपने साथ रखने का निर्देश दिया गया था।[2] यात्रा के समय उन्हें ग्राम में एक रात तथा नगर में पाँच रात तक निवास करने का विधान था।[3] परन्तु बृहत्कल्पसूत्र में इस नियम में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। भिक्षुणियाँ सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम तथा नगर में हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में दो मास तथा सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम तथा नगर में हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में अधिक से अधिक चार मास तक रह सकती थीं।[4] जिस ग्राम अथवा नगर के चारों ओर पाषाण, ईंट, मिट्टी, काष्ठ आदि का अथवा खाईं, तालाब, नदी, पर्वत या दुर्ग का परिक्षेप (प्राकार) हो तथा उसके अन्दर ही घर आदि बसे हों, उसे सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम या नगर कहा जाता था तथा जिस ग्राम आदि के चारों ओर पूर्वोक्त प्रकार के प्राकारों में से किसी एक प्रकार का प्राकार हो तथा उसके बाहर भी घर आदि बसे हों, उसे सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम तथा नगर कहा जाता था।

---

१. बृहत्कल्पसूत्र, १/३८.

२. आचारांग, २/१/३/८.

३. कल्पसूत्र, ११९.

४. बृहत्कल्पसूत्र. १/८-९.

यात्रा-पथ : यात्रा के पथ के सम्बन्ध में उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वे यथासम्भव आर्यों अर्थात् सुसभ्य प्रदेशों से होकर ही यात्रा करें।[१] नृपहीन राज्यों के मध्य से भिक्षुणियों को यात्रा करने का निषेध किया गया था क्योंकि ऐसे प्रदेश में अराजकता अथवा अव्यवस्था का होना सम्भव है और भिक्षुणी विपरीत परिस्थितियों में उलझ सकती है।[२] मार्ग में यदि लम्बा जंगल पड़ने की सम्भावना हो तो उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि यथासम्भव वे उस रास्ते से न जायें।[३] इसी प्रकार यदि रास्ते में टीला, खाईं, दुर्ग आदि पड़ता हो और मार्ग सीधा हो तब भी उन्हें उस रास्ते से जाने का निषेध किया गया था; उन्हें घुमावदार एवं अच्छे मार्ग से ही जाने का विधान था।[४] उन्हें उस रास्ते से भी जाने का निषेध किया गया था, जिस पर घोड़ा-गाड़ियाँ, रथ अथवा सेना जा रही हो।[५]

उपर्युक्त नियमों को निर्माण-प्रक्रिया से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि जैनाचार्यों ने भिक्षुणियों की जीवन-सुरक्षा और शील-सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था की थी। भिक्षुणियों को इस प्रकार के निर्देश दिये गये थे ताकि उन्हें किसी प्रतिकूल परिस्थिति का सामना न करना पड़े।

यात्रा के समय व्यर्थ का वार्तालाप करना निषिद्ध था।[६] यदि कोई पथिक ग्राम या नगर के बारे में पूछे भी तो उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वे इसका उत्तर न दें, अपितु मौन धारण किये रहें।[७] रास्ते पर यदि ऊँचा घर, किला आदि पड़े तो संशयवश उसे उचक-उचक कर देखने से निषेध किया गया था।[८]

भिक्षुणियों को यद्यपि वैराज्य, अराजक तथा नृपहीन राज्यों के मध्य से यात्रा करने का निषेध किया गया था, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में बृहत्कल्पभाष्यकार ने इनमें यात्रा करने की छूट दी है। उदाहरणस्वरूप—

१. आचारांग, २।३।१६.
२. वही, २।३।१७.
३. वही, २।३।१८.
४. वही, २।३।२।१४.
५. वही, २।३।२।१५-१६.
६. वही, २।३।२।८.
७. वही, २।३।३।७-११.
८. वही, २।३।३।१-२.

(१) साध्वी के माता-पिता यदि दीक्षा के लिए उद्यत हों, (२) यदि उसके माता-पिता शोक से विह्वल हों, तो उन्हें सान्त्वना प्रदान करने के लिए, (३) प्रत्याख्यान (समाधिमरण) की इच्छुक साध्वी यदि अपने गुरु के पास आलोचना के लिए जाय, (४) साधु या साध्वी की वैयावृत्य (सेवा) के लिए, (५) अपने पर क्रुद्ध साधु या साध्वी को शान्त करने के लिए, (६) शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर, (७) आचार्य का अपहरण कर लिये जाने पर उनके विमोचन के लिए।

इसी प्रकार के अन्य कारणों के उपस्थित होने पर भिक्षुणी को यदि अराजक राज्यों से जाना आवश्यक हो तो उन्हें निर्देश दिया गया था वे सर्वप्रथम सीमावर्ती आरक्षक से इसके लिए अनुमति लें, उसके निषेध करने पर नगर-सेठ से अनुमति लें तथा उसके भी निषेध करने पर सेनापति से तथा अन्त में स्वयं राजा से अनुमति लेने का प्रयत्न करें। इनकी अनुमति प्राप्त होने पर ही ऐसे राज्यों के मध्य से यात्रा करने का विधान था।[1]

बृहत्कल्पसूत्र में भिक्षु-भिक्षुणियों को पूर्व दिशा में अंग-मगध तक, दक्षिण दिशा में कौशाम्बी तक, पश्चिम दिशा में स्थूण (स्थानेश्वर) तक तथा उत्तर दिशा में कुणाल (श्रावस्ती) देश तक यात्रा करने का निर्देश दिया गया है।[2] इसे आर्य क्षेत्र कहा गया है। बृहत्कल्पभाष्यकार[3] ने भारतवर्ष में २५½ आर्य-देश माने हैं जिनके नाम निम्न हैं :—

मगध, अंग, कलिंग, काशी, कोशल, कुरु, सौर्य, पांचाल (काम्पिल्य), जांगल (अहिच्छत्र), सौराष्ट्र, विदेह, वत्स (कौशाम्बी), संडिब्भ (नंदीपुर), मलय (भद्दिलपुर), वच्छ (वैराट), अच्छ (वरणा), दशार्ण, चेदि, सिन्धु-सौवीर, सूरसेन, भृंग (पावा), कुणाल (श्रावस्ती), पुरिवट्ट (मास ?), लाट (कोटिवर्ष) तथा अर्द्धकेकय।

इन्हीं क्षेत्रों में साधु-साध्वियों को यात्रा करने का निर्देश दिया गया था। इसका कारण यह बताया गया है कि भिक्षु-भिक्षुणियों को इन क्षेत्रों में आहार तथा उपाश्रय की सुलभता रहती है तथा यहाँ के लोग जैन आचार-विचार से परिचित होते हैं। इसका एक अन्य कारण यह भी

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २७८४-९१.

२. बृहत्कल्पसूत्र, १/५२.

३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, ३२६३.

बताया गया है कि इन्हीं क्षेत्र की सीमाओं के भीतर तीर्थंकर के जन्म तथा निष्क्रमण की घटना घटी है।

जैसे-जैसे जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार बढ़ता गया, जैन भिक्षु-भिक्षुणियों के भ्रमण-क्षेत्र में भी विस्तार होता गया। उन्हें अन्य क्षेत्रों में यात्रा करने का निषेध इसीलिए किया गया था ताकि उन्हें आहार तथा उपाश्रय आदि प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। इसके अतिरिक्त भी उन्हें यात्रा सम्बन्धी अनेक मर्यादाओं का पालन करना पड़ता था। रास्ते में यदि घुटनों तक पानी मिले तो शरीर के किसी भाग के एक दूसरे से स्पर्श किये बिना सावधानी पूर्वक पार करने का निर्देश दिया गया था।[1] आनन्द के लिए या गर्मी शान्त करने के लिए गहरे पानी में जाना निषिद्ध था। नदी या तालाब पार करते हुये वस्त्र के भीग जाने पर उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वे शरीर या कपड़े को रगड़ें या मलें नहीं अपितु उसे अपने आप सूखने दें।[2] यात्रा करते समय भिक्षुणी के साथ आचार्य अथवा प्रवर्त्तिनी हों तो उसे यह ध्यान रखना पड़ता था कि अपने शरीर का कोई भी भाग उनके शरीर से स्पर्श न करे।[3]

परिवहन (नाव आदि) का उपयोग

यात्रा करते समय नदी आदि को पार करने के लिए भिक्षुणी को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता था। बिना कारण नाव में बैठना निषिद्ध था।[4] इसी प्रकार वह अपने निमित्त खरीदी गयी, उधार ली गयी या बदले में ली गयी नाव पर नहीं बैठ सकती थी।[5] उसे अपनी सभी उपयोगी वस्तुओं को एक साथ रखकर सावधानीपूर्वक नाव में बैठने का विधान था। नाव के सबसे आगे एवं पीछे वाले हिस्से में बैठना निषिद्ध था। नाव से पानी उलचना, किसी का सामान पकड़ना या देना, नाव को आगे या पीछे खींचने में सहायता करना आदि सारे कार्य उसके लिए निषिद्ध थे।[6] लोगों के कथन के अनुसार काम न करने पर यदि कोई उसे पानी

१. आचारांग, २/३/२/९-१०.
२. वही, २/३/२/११-१२.
३. वही, २/३/३/३-६.
४. निशीथसूत्र, १८/१.
५. आचारांग, २/३/१/९.
६. वही, २/३/१/१०-१६; २/३/२/१.

में फक दे, तो भिक्षुणी को बिना घबड़ाये या अप्रसन्न हुये, शरीर का कोई भाग एक दूसरे से न सटाते हुये, यथासम्भव जलकाय जीवों की रक्षा करते हुये सावधानीपूर्वक तैरने का निर्देश दिया गया था। परन्तु जल में तैरते हुये उसे आनन्द के लिए डुबकी आदि लेने का निषेध किया गया था। नदी के किनारे पहुँच जाने पर भी उसे पानी को पोंछने या वस्त्र निचोड़ने की आज्ञा नहीं थी।

बृहत्कल्पसूत्र[1] में पाँच महानदियों का उल्लेख है जिनको नाव आदि में बैठकर पार करने के लिए एक बार तो आने-जाने की आज्ञा थी, परन्तु दो-तीन बार आने-जाने का निषेध किया गया था। ये नदियाँ निम्न हैं—गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका और माही। भाष्यकार ने महानदी से तात्पर्य सिन्ध और ब्रह्मपुत्र से भी लगाया है। इनके अतिरिक्त ऐसी छोटी नदियों में, जिनमें कम पानी होता था, सामान्य रूप से दो या तीन बार आने-जाने का विधान था।[2]

दिगम्बर भिक्षुणियों के यात्रा सम्बन्धी नियम : दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों को भी वर्षा के चार महीने छोड़कर शेष आठ महीने इतस्ततः भ्रमण करने का निर्देश दिया गया था। भिक्षुणी को जीव-जन्तुओं से रहित रास्ते से उद्विग्नतारहित होकर शान्तचित्त से यात्रा करने का निर्देश दिया गया था।[3] उसे उस रास्ते पर यात्रा करने का निषेध किया गया था जिस पर बैलगाड़ी (शकट), यान, पालकी (जुग्ग), रथ, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि का हमेशा आवागमन हो।

दिगम्बर भिक्षुणियों के यात्रा सम्बन्धी नियम विस्तृत रूप से प्राप्त नहीं होते हैं। यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि इनके भी नियम श्वेताम्बर सम्प्रदाय की भिक्षुणियों के समान ही रहे होंगे।

बौद्ध भिक्षुणी के यात्रा सम्बन्धी नियम—बौद्ध संघ में भी भिक्षुणियों के लिए भ्रमण करना अनिवार्य था। शिक्षमाणा को अपनी प्रवर्त्तिनी के साथ कम से कम पाँच या छः योजन तक भ्रमण करने का निर्देश दिया गया था। कोई भी भिक्षुणी अकेली यात्रा नहीं कर सकती थी। उसे अकेली नदी

---

१. बृहत्कल्पसूत्र, ४/३४.
२. वही, ४/३५.
३. मूलाचार, ४/१०१.

पार करने तथा रात्रि में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाने का निषेध था। यह गम्भीर अपराध था और ऐसा करने पर उसे मानत्त का दण्ड दिया जाता था।[१] इसी प्रकार कोई भी भिक्षुणी किसी गृहस्थ पुरुष, दास या मजदूर के साथ नहीं घूम सकती थी।[२] उसे भिक्षुणियों के साथ ही भ्रमण करने का निर्देश दिया गया था। भिक्षुणी के निवास-स्थान तथा उसके आस-पास के स्थान में यदि स्थिति अशान्त रहती थी—तो उसे वहाँ भी अकेले घूमने से मना किया गया था।[३] भिक्षुणियों के लिए अरण्यवास करने का निषेध था[४] क्योंकि इस प्रकार के निर्जन स्थान में दुराचारी व्यक्तियों द्वारा उन पर बलात्कार किये जाने की सम्भावना हो सकती थी।

इन निषेधों के मूल में शील-सुरक्षा की चिन्ता अधिक दिखायी देती है। इसीलिए उन्हें कई भिक्षुणियों के साथ जाने का निर्देश दिया गया था, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे कामातुर तथा दुराचारी व्यक्तियों से अपनी रक्षा कर सकें।

सामान्य अवस्था में बौद्ध भिक्षुणी को भ्रमण के समय किसी सवारी का प्रयोग करना निषिद्ध था, परन्तु रोगिणी भिक्षुणी को यान आदि के उपयोग की अनुमति दी गयी थी। वह शिविका (सिविका) और पालकी (पाटङ्कि) का उपयोग कर सकती थी।[५]

तुलना :

हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध-दोनों संघों की भिक्षुणियों को वर्षा-काल के चार महीने छोड़कर वर्ष के शेष आठ महीने भ्रमण करने की सलाह दी गयी थी। बौद्ध संघ में तो शिक्षमाणा को अपनी प्रवर्त्तिनी के साथ कम से कम ५-६ योजन तक यात्रा करने का विधान था, अन्यथा वह पाचित्तिय दण्ड को पात्र समझी जाती थी। संघ के नियमानुसार जैन एवं बौद्ध दोनों भिक्षुणियों को अकेले यात्रा करने की अनुमति नहीं थी। इसके मूल में उनकी शील-सुरक्षा का प्रश्न था- जिसके लिए जैन तथा बौद्ध धर्माचार्यों ने हर सम्भव प्रयत्न किया था। इसी कारण भिक्षुणियों

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी संघादिशेस, ३.

२. वही, १.

३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ३७-३८.

४. चुल्लवग्ग, पृ० ३९९.

५. वही, पृ० ३९७.

को उन मार्गों से यात्रा करने का निषेध किया गया था, जहाँ अराजकता व्याप्त हो अथवा जहाँ भिक्षा, उपाश्रय आदि मिलने में कठिनाई हो।

जैन भिक्षुणियों को बारबार नदी आदि पार करने से मना किया गया था। इसी प्रकार उन्हें स्नान करने अथवा जल में क्रीड़ा करने की अनुमति नहीं थी। बौद्ध भिक्षुणियों के लिए स्नान का कोई कठोर निषेध नहीं था। स्नान करने के लिए उनके अलग घाट (जगह) थे तथा उदकशाटिका नामक एक अलग वस्त्र धारण करने का विधान था।

भ्रमण के समय जैन भिक्षुणियाँ किसी भी परिस्थिति में किसी सवारी का उपयोग नहीं कर सकती थीं; उन्हें पैदल ही यात्रा करने का विधान था, परन्तु बौद्ध भिक्षुणियाँ अपवादस्वरूप यात्रा के समय यान (सवारी) का उपयोग कर सकती थीं।

जैन भिक्षुणी के वर्षावास सम्बन्धी नियम

संन्यास धर्म का पालन करने वाले प्रायः सभी सम्प्रदायों के भिक्षु-भिक्षुणियों को वर्षाकाल में एक स्थान पर रुकने का विधान बनाया गया था। वर्षाकाल के प्रारम्भ हो जाने पर जैन भिक्षुणी को एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना निषिद्ध था।[1] उसे यह निर्देश दिया गया था कि वह एक स्थान पर सावधानीपूर्वक चार मास व्यतीत करे। भिक्षुणी को अकेले एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाना तथा अकेले वर्षावास करने का निषेध किया गया था।[2] भिक्षुणियों को अपनी प्रवर्त्तिनी अथवा उपाध्याया के साथ ही रहने का निर्देश दिया गया था। नियमानुसार प्रवर्त्तिनी के साथ कम से कम तीन साध्वियाँ तथा गणावच्छेदिनी के साथ कम से कम चार साध्वियाँ रह सकती थीं।

चातुर्मास व्यतीत करने के लिए भिक्षुणी को उपयुक्त उपाश्रय खोजने की सलाह दी गयी थी। अनुपयुक्त उपाश्रय में वर्षावास करना निषिद्ध था। ऐसे स्थान पर जहाँ आहार आदि प्राप्त करने में सुलभता न हो, अथवा जहाँ के लोग क्रूर हों या अन्य धर्मावलम्बियों तथा दरिद्रों की भीड़ हो, वहाँ वर्षावास करने का निषेध था।[3] भिक्षुणी को उसी स्थान

---

१. आचारांग, २/३/१/१.; बृहत्कल्पसूत्र, १/३७.

२. नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए—गामाणुगामं दूइज्जित्तए वा वासावासं वा वत्थए—बृहत्कल्पसूत्र, ५/१८.

३. आचारांग, २/३/१/३.

पर रहने का निर्देश दिया गया था, जहाँ आना-जाना सुगम हो तथा शय्या-संस्तारक, भिक्षा आदि मिलने की सुविधा हो।[1]

वर्षावास-स्थल पर उसे तब तक ठहरने का निर्देश दिया गया था जब तक कि वर्षावसान के बाद लोगों का आना-जाना शुरू न हो गया हो तथा मार्ग में सूक्ष्म जीव-जन्तुओं तथा हरी वनस्पतियों के कुचलने का भय हो। यदि मार्ग अवरुद्ध हो तो वे उस स्थल पर वर्षावास के चार महीने से भी अधिक समय तक रुक सकती थीं, चाहे हेमन्त ऋतु का भी कुछ काल क्यों न व्यतीत हो गया हो।[2] अहिंसा महाव्रत का पालन करने वाली भिक्षुणियों के लिए ऐसा करना इसलिए आवश्यक था, ताकि किसी भी परिस्थिति में सूक्ष्म जीव-जन्तुओं तथा हरे तृणों की विराधना न हो।

दिगम्बर भिक्षुणियों के वर्षावास सम्बन्धी नियम

दिगम्बर सम्प्रदाय की भिक्षुणियों को भी वर्षाकाल में एक स्थान पर चार माह रुकने का विधान किया गया था। मूलाचार की टीका के अनुसार वर्षा-ऋतु आरम्भ होने के पूर्व एक माह, वर्षा ऋतु के दो माह तथा वर्षावसान के पश्चात् एक माह—इस प्रकार उसे चार माह ठहरने का निर्देश दिया गया था। एक माह पहले ही रुकने का टीकाकार ने यह कारण बतलाया है कि इससे भिक्षु-भिक्षुणियों के बारे में लोगों को सही स्थिति ज्ञात हो जायेगी (लोकस्थितिज्ञापनार्थ)। वर्षा के दो महीने रुकने का कारण अहिंसा महाव्रत का पालन था (अहिंसादिव्रतपरिपालनार्थ)। वर्षावसान के पश्चात् एक माह रुकने का कारण श्रावकों की शंका का समाधान करना था (श्रावक-लोकादिसंक्लेशपरिहरणाय)।[3]

इस प्रकार जैन धर्म के दोनों ही सम्प्रदायों में वर्षावास सम्बन्धी नियम प्रायः समान थे।

बौद्ध भिक्षुणियों के वर्षावास सम्बन्धी नियम

बौद्ध भिक्षुणियों के भी वर्षावास सम्बन्धी विस्तृत नियम थे। उन्हें वर्षावास अकेले व्यतीत करना निषिद्ध था। भिक्षुणियों को भिक्षुओं के साथ ही वर्षावास करने की अनुमति दी गयी थी। भिक्षुणियों के लिए निर्धारित अष्टगुरुधर्म नियम के अनुसार वर्षाकाल में कोई भी भिक्षुणी भिक्षु-रहित ग्राम या नगर में वर्षावास नहीं कर सकती थी। यह अनतिक्रमणीय नियम

---

१. आचारांग, २/३/१/३.
२. वही, २/३/१४.
३. मूलाचार, १०/१८. तथा टीका।

था जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। भिक्खुनी पाचित्तिय में भी ठीक यही नियम था।[1] ये नियम भिक्षुणियों की सुरक्षा की दृष्टि से बनाये गये थे। परन्तु इन नियमों के निर्माण में इसके अतिरिक्त भी निम्न अन्य कारण थे:—

प्रवारणा के कारण निषेध

भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह वर्षावास के तुरन्त बाद दोनों संघों (भिक्षु तथा भिक्षुणी-संघ) के समक्ष प्रवारणा करे।[2] प्रवारणा में वर्षावास में हुये दृष्ट, श्रुत तथा परिशंकित अपराधों की संघ को जानकारी करानी पड़ती थी—तभी वह शुद्ध मानी जाती थी। अतः भिक्षुणियों के लिए यह आवश्यक हो जाता था कि वे भिक्षुओं के साथ ही वर्षावास करें ताकि वर्षावसान के बाद प्रवारणा के लिए भिक्षु-संघ की तलाश में इधर-उधर भटकना न पड़े।

उपोसथ के कारण निषेध

उपोसथ के नियमों के कारण भी भिक्षुणी को अकेले वर्षावास करने का निषेध किया गया था। संघ के नियमानुसार भिक्षुणियों को प्रति पन्द्रहवें दिन उपोसथ की तिथि पूछनी पड़ती थी तथा उपदेश सुनने का समय ज्ञात करना पड़ता था।[3] अतः इस धार्मिक अनिवार्यता की पूर्ति हेतु भी भिक्षुणियों के लिए भिक्षु-रहित स्थान में वर्षावास करना असम्भव था।

उपर्युक्त जिन मुख्य कारणों से भिक्षुणी को अकेले वर्षावास करने से मना किया गया था, उनमें सर्वाधिक महत्त्व का प्रश्न उनके शील की सुरक्षा का था, जिसके लिये समुचित व्यवस्था की गयी थी। परन्तु इससे भिक्षुणियों की निम्न स्थिति की सूचना भी मिलती है। उनका कोई भी कार्य भिक्षु-संघ की सहमति अथवा उनकी उपस्थिति के बिना सम्भव नहीं था। वर्षाकाल में वर्षावास करते हुए भिक्षुणियों को कहीं भी आने-जाने का निषेध किया गया था। भिक्षुओं को वर्षावास के स्थान को कुछ विशेष परिस्थितियों में त्यागने का भी विधान था।[4] जैसे—कोई

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५६.
२. वही, ५७; पाचित्तिय पालि, पृ० ४२८-२९.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५९.
४. महावग्ग, पृ० १४५-१५५.

उपासक संघ को विहार-दान देना चाहता हो, किसी भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेरी, उपासक या उपासिका का कोई कार्य हो, तो भिक्षु संदेश मिलने पर सप्ताह भर के लिए जा सकता था। यदि कोई भिक्षु रोगी हो, उसका मन संन्यास से उचट गया हो, धर्म के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया हो, मन में बुरी धारणा उत्पन्न हो गई हो तो भिक्षु बिना संदेश मिलने पर भी सप्ताह भर के लिए जा सकता था। भिक्षुणियों को इस प्रकार वर्षाकाल में आवास त्यागने का नियम था या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

तुलना

दोनों संघों की भिक्षुणियों को वर्षा के चार महीने एक स्थान पर व्यतीत करने का निर्देश दिया गया था। वर्षाकाल में यात्रा करने पर सूक्ष्म जीव-जन्तुओं तथा सद्यः उत्पन्न पादपों की हिंसा हो सकती थी—अतः उन्हें कहीं आने-जाने का निषेध था। दोनों संघों में भिक्षुणी को अकेले वर्षावास व्यतीत करने की अनुमति नहीं थी। साथ में दो या तीन भिक्षुणियों का होना आवश्यक था। ये नियम उनकी शील-सुरक्षा के ही दृष्टिकोण से बनाये गये थे। बौद्ध भिक्षुणियों को भिक्षु-संघ के साथ ही वर्षावास व्यतीत करने का निर्देश दिया गया था, क्योंकि बौद्ध भिक्षुणियों के प्रवारणा, उपोसथ तथा उवाद (उपदेश) जैसे धार्मिक कृत्य बिना भिक्षु-संघ की उपस्थिति के नहीं हो सकते थे। किन्तु जैन भिक्षुणियों को उपोसथ या प्रवारणा (प्रतिक्रमण) के लिए भिक्षु-संघ के समक्ष उपस्थित होना अनिवार्य नहीं था; अतः बौद्ध भिक्षुणियों के विपरीत जैन भिक्षुणियाँ भिक्षुसंघ के अभाव में भी अपना वर्षावास व्यतीत कर सकती थीं।

बौद्ध भिक्षुणियों के उपोसथ का विधान

बौद्ध संघ में उपोसथ करने का विधान था। भिक्षुणियों के लिए निर्धारित अष्टगुरुधर्म में उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि वे प्रति पन्द्रहवें दिन भिक्षु-संघ से उपोसथ की तिथि पूछकर उसमें शामिल हों। उपोसथ में शामिल न होने पर उन्हें पाचित्तिय का दण्ड लगता था।[1] बौद्ध संघ में उपोसथ-परम्परा का विधान दूसरे मतावलम्बियों (अञ्ञ-तित्थिया परिब्बाजका) की देखा-देखी शुरू किया गया था।[2] क्योंकि एक

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५९.

२. महावग्ग, पृ० १०४.

स्थान पर इकट्ठा होकर धर्म का उपदेश करने से उन धर्मों के प्रति लोगों में प्रेम तथा श्रद्धा उत्पन्न होती थी तथा उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि भी होती थी, अतः बौद्ध धर्म में भी कुछ विशिष्ट दिवसों में धर्मोपदेश करने की प्रथा प्रारम्भ की गयी। इस दिन बौद्ध संघ के सदस्य एक स्थान पर उपस्थित होकर धर्म की चर्चा करते थे तथा इसी दिन पातिमोक्ख नियमों की वाचना भी की जाती थी।[1] उपोसथ की परम्परा प्रारम्भ होने के समय पातिमोक्ख की वाचना पक्ष में तीन दिन—अष्टमी, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को की जाती थी।[2] परन्तु बाद में पातिमोक्ख नियमों की आवृत्ति उपर्युक्त तीनों दिनों में से केवल एक दिन चतुर्दशी या पूर्णिमा को करना निश्चित की गई।[3]

उपोसथ एक भौगोलिक सीमा के भीतर ही होता था तथा उस सीमा के भीतर जितने भी भिक्षु या भिक्षुणी रहते थे, उन्हें उपस्थित होना आवश्यक था। यह सीमा व्यावहारिक थी तथा उपोसथ के स्थान से चारों ओर तीन योजन तक मानी गयी थी, परन्तु उसकी सीमा में यदि ऐसी नदी आ जाय जिसे पार करना कठिन हो, तो वही नदी सीमा मान ली जाती थी। यह सीमा 'ञतिदुतियकम्म' के माध्यम से अर्थात् विज्ञप्ति करके ही निश्चित की जाती थी।[4] उपोसथ का अपना एक निश्चित स्थान होता था, जिसे उपोसथागार के नाम से जाना जाता था। संघ की अनुमति लेकर उपोसथ किसी भी विहार, अटारी, प्रासाद या गुफा में हो सकता था।[5] ञतिदुतियकम्म के माध्यम से ही उपोसथागार निश्चित करने का विधान था। एक सीमा में एक ही उपोसथागार हो सकता था, इससे अधिक नहीं।

उपोसथागार में संघ को आमन्त्रित करने के पहले उपोसथ के कुछ पूर्वकार्य (उपोसथस्स पुब्बकरण) थे, जिन्हें पूर्ण करना आवश्यक होता था। इसमें मुख्य रूप से चार कार्य आते थे। (१) उपोसथागार की सफाई (सम्मज्जनी), (२) दीपक का प्रबन्ध (पदीप), (३) पानी का प्रबन्ध (उदक) तथा (४) बिछावन (आसन) आदि का प्रबन्ध करना। इसी

१. महावग्ग, पृ० १०६.
२. वही, पृ० १०५.
३. वही, पृ० १०५.
४. वही, पृ० १०९.
५. वही, पृ० १०९-११०.

प्रकार उपोसथागार में पातिमोक्ख की वाचना के पूर्व भिक्षुणियों को छन्द तथा पारिशुद्धि भेजनी पड़ती थी। रोगिणी भिक्षुणी अपनी अदोषता किसी दूसरी भिक्षुणी से भेज सकती थी। इसी को पारिशुद्धि कहा गया है। इसके पश्चात् उतुक्खान अर्थात् संघ को यह बताना पड़ता था कि यह ऋतु का कौन सा उपोसथ है। (बौद्ध धर्म के अनुसार वर्ष में तीन ऋतुएँ होती हैं—हेमन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा। प्रत्येक चार मास की होती हैं। चूँकि एक पक्ष में एक उपोसथ होता था, अतः एक ऋतु में आठ उपोसथ होते थे।) उपोसथागार में उपस्थित भिक्षुणियों की गणना (भिक्खुनी-गणना) तथा उनको उपदेश (उवाद) देना पातिमोक्ख नियमों की वाचना के पूर्व ही किये जाते थे।[1]

किसी दोष से युक्त भिक्षु अथवा भिक्षुणी को उपोसथ में उपस्थित होने का अधिकार नहीं था। अपने को जब वह दोषों से मुक्त कर लेता था, तभी वह उपस्थित होने का अधिकारी माना जाता था।[2] भिक्षुणियों को भिक्षु से अलग उपोसथ करने का विधान था, क्योंकि भिक्षु के पातिमोक्ख उपोसथ में जिन २१ अयोग्य व्यक्तियों (वज्जनीय पुग्गल) को उपस्थित होने का निषेध था, उनमें भिक्षुणियाँ भी थीं।[3] भिक्षुणियों की उपस्थिति में पातिमोक्ख वाचना करने से भिक्षु को दुक्कट के दण्ड का प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय उनके पातिमोक्ख नियमों की आवृत्ति नहीं होती थी। अतः भिक्षु को ही भिक्षुणियों के पातिमोक्ख नियमों की आवृत्ति करने की अनुमति प्रदान की गयी थी, परन्तु कुछ ही समय बाद जनापवाद के भय से बुद्ध ने भिक्षुणियों द्वारा स्वयं पातिमोक्ख नियमों की आवृत्ति करने का विधान बनाया।[4]

---

१. सम्मज्जनी पदीपो च उदकं आसनेन च
   उपोसथस्स एतानि पुब्बकरणन्ति वुच्चति
   छन्दपारिसुद्धि उतुक्खानं भिक्खुनी-गणना च ओवादो
   उपोसथस्स एतानि पुब्बकिच्चन्ति वुच्चति ।
   —भिक्खुनी पातिमोक्ख, निदान, सांकृत्यायन, राहुल (अनुवादक), विनय-पिटक, पृ० ३९.

२. महावग्ग, पृ० ११६-२७.

३. न, भिक्खवे, भिक्खुनिया निसिन्नपरिसाय पातिमोक्खं उद्दिसितब्बं"
   —वही, पृ० १४१.

४. चुल्लवग्ग, पृ० ३७९-८०.

यद्यपि भिक्षु के पातिमोक्ख उपोसथ में भिक्षुणी की उपस्थिति निषिद्ध मानी गयी थी, परन्तु भिक्षुणियों के पातिमोक्ख उपोसथ में भिक्षु की उपस्थिति के सम्बन्ध में इस प्रकार के निषेध का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। पातिमोक्ख नियम की वाचना किस प्रकार करनी चाहिए— भिक्षुणियों को भिक्षुओं से सीखने का विधान बनाया गया था।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि भिक्षुणी के पातिमोक्ख-उपोसथ में भिक्षु उपस्थित हो सकता था।

इसी प्रकार भिक्षुणी भिक्षु के उपोसथ को किसी प्रकार प्रभावित या स्थगित नहीं कर सकती थी, परन्तु भिक्षु को यह अधिकार था कि वह भिक्षुणियों के उपोसथ को स्थगित कर दे। उसका यह कृत्य वैध माना गया था।[2] गृहस्थों आदि की सभा में पातिमोक्ख-नियमों की वाचना करना निषिद्ध था।[3]

कितनी संख्या में उपस्थित होकर उपोसथ करना चाहिए, इसका उल्लेख भिक्षुओं के सन्दर्भ में प्राप्त होता है। चार या उससे अधिक की संख्या में भिक्षुओं के उपस्थित होने पर ही पातिमोक्ख-नियमों की वाचना हो सकती थी, इससे कम की संख्या में भिक्षुओं के उपस्थित होने पर पातिमोक्ख-नियमों की वाचना का विधान नहीं था। इसे संघ उपोसथ कहा जाता था। इसे 'सूत्तुद्देस' उपोसथ भी कहते थे, क्योंकि इसमें सूत्र (नियमों) की वाचना की जाती थी। दो या तीन भिक्षु वाले उपोसथ को गण उपोसथ या पारिसुद्धि उपोसथ कहते थे, क्योंकि इसमें भिक्षु को केवल अपनी शुद्धता बतानी पड़ती थी। अकेला भिक्षु भी (यदि उपोसथ के समय उस सीमा के भीतर अन्य भिक्षु न हों) उपोसथ कर सकता था। उसे पुग्गल उपोसथ या अधिट्ठान उपोसथ कहते थे क्योंकि अकेले भिक्षु को उपोसथ का केवल अधिट्ठान करना होता था।[4] यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बौद्ध भिक्षुणियों के सन्दर्भ में भी ये नियम लागू होते रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त बौद्ध संघ में 'सामग्गी उपोसथ' का विधान था। संघ में किसी प्रकार का भेद या कलह उत्पन्न होने पर पूरा संघ उपस्थित

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३८०.
२. वही, पृ० ३९७.
३. महावग्ग, पृ० ११७.
४. वही, पृ. १२५-१२६.

होकर अपना निर्णय देता था। पातिमोक्ख की वाचना वाले उपोसथ के विपरीत यह किसी भी दिन किया जा सकता था।[१]

उवाद

बौद्ध भिक्षुणियों को प्रति १५वें दिन भिक्षु-संघ से उपदेश सुनने के लिए जाना पड़ता था, इस नियम का उल्लंघन करने पर उन्हें प्रायश्चित्त करने का विधान था।[२] भिक्षु-संघ से उपदेश सुनने को "उवाद" कहा गया है। उवाद की गणना उपोसथ के पूर्व कृत्य में आती है, अतः यह प्रतीत होता है कि पातिमोक्ख की वाचना के पहले ही उवाद (उपदेश) दे दिया जाता था।

प्रारम्भिक नियमों के अनुसार भिक्षु से उपदेश सुनने के लिए प्रत्येक भिक्षुणी को जाना अनिवार्य था, अन्यथा उसे पाचित्तिय दण्ड का प्रायश्चित्त करना पड़ता था। परन्तु कुछ ही समय बाद इस नियम में परिवर्तन आया और बुद्ध ने भिक्षुणी-संघ की दो या तीन भिक्षुणियों को एक साथ उवाद में जाने का विधान बनाया। इससे अधिक की संख्या में जाने पर उन्हें दुक्कट का दण्ड लगता था।[३] यह नियम इसलिए बनाया गया प्रतीत होता है ताकि उपदेश-स्थल पर शान्ति रह सके। पूरे भिक्षुणी-संघ के उपस्थित हो जाने पर कोलाहल सा हो जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शेष भिक्षुणियां क्रम से उवाद सुनने जाया करती थीं।

वह भिक्षु, जो भिक्षुणियों को उपदेश देने के लिए नियुक्त किया जाता था, भिक्षुणी-ओवादक (भिक्खुनोवादक) कहलाता था। उसका निर्वाचन 'ञतिचतुत्थकम्म' के माध्यम से होता था।[४] कन्धे पर उत्तरासंग करके उँकडू बैठकर, हाथ जोड़कर तथा चरणों में वन्दना करके भिक्षु-संघ से भिक्खुनोवादक चुनने की प्रार्थना की जाती थी। उस समय यदि संघ द्वारा भिक्खुनोवादक भिक्षु को नहीं चुना गया होता था तो भिक्षुणी-संघ को

---

१. महावग्ग, पृ० ३८८-८९.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५८-५९; पाचित्तिय पालि, पृ० ४३०; चुल्लवग्ग, पृ० ३८४.
३. चुल्लवग्ग, पृ. ३८४; भिक्षुणी विनय, §९४.
४. पाचित्तिय पालि, पृ. ७६; चुल्लवग्ग, पृ. ३८४.

अपना कार्य अच्छी प्रकार सम्पादित (पासादिकेन सम्पादेतू) करने की सलाह दी जाती थी।[1]

अज्ञानी, रोगी तथा यात्रा पर जाने वाला भिक्षु उपदेशक बनने से अस्वीकार कर सकता था। पर सामान्यतया भिक्षुणी-संघ के प्रार्थना करने पर कोई भिक्षु उपदेश देने से इन्कार नहीं करता था।[2] मानत्त अथवा परिवास दण्ड का प्रायश्चित्त कर रहे भिक्षु को भी भिक्षुणी को उपदेश देने का अधिकार नहीं था।[3]

यदि भिक्षु-संघ द्वारा नियुक्त भिक्खुनोवादक भिक्षु बिना कारण के उपदेश स्थगित कर दे या उपदेश देने के समय चारिका के लिए चला जाय तो उसे दुक्कट के दण्ड का भागी बनना पड़ता था।[4]

उपदेश सुनने का एक निश्चित स्थल होता था, जहाँ भिक्षुणियों को जाना आवश्यक था। उस स्थान पर न जाने पर उन्हें दुक्कट का दण्ड लगता था।[5] परन्तु यदि भिक्षुणी अशक्त या रोगी हो तो भिक्षु भिक्षुणी-उपाश्रय में भी जाकर उपदेश दे सकता था। सामान्य अवस्था में भिक्षुणी-उपाश्रय में उपदेश देने का विधान नहीं था।[6]

केवल योग्य तथा संघ की सम्मति से ही कोई भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे सकता था अन्यथा भिक्षु को भी पाचित्तिय दण्ड का भागी बनना पड़ता था। अंगुत्तर निकाय[7] में भिक्खुनोवादक भिक्षु में निम्न आठ गुणों का होना आवश्यक बताया गया है :—

(१) शीलवान हो तथा शिक्षापदों को सम्यक् रूप से सिखाने वाला हो।
(२) बहुश्रुत हो।
(३) भिक्खु-पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी-पातिमोक्ख के नियमों का ज्ञाता हो।
(४) सूत्र तथा व्यञ्जन को भली प्रकार विभक्त कर निश्चित अर्थ बताने वाला तथा हितकर वाणी बोलने वाला हो।

---

१. चुल्लवग्ग, पृ. ३८४.
२. वही पृ. ३८५.
३. महावग्ग, पृ. ६७.
४. चुल्लवग्ग, पृ० ३८३
५. वही, पृ० ३८६.
६. पातिमोक्ख, भिक्खु पाचित्तिय, २३.
७. अङ्गुत्तर निकाय, ८/६; पाचित्तिय पालि, पृ० ७७-७८.

(५) विश्वस्त, स्पष्ट तथा अर्थ-बोधक मधुरवाणी बोलने वाला हो।
(६) भिक्षुणी-संघ को धार्मिक चर्चा द्वारा विषय स्पष्ट करने तथा उन्हें धर्माचरण में प्रेरित करने वाला हो।
(७) किसी भिक्षुणी के शरीर-स्पर्श की वासना से मुक्त हो।
(८) बीस वर्ष अथवा इससे अधिक वर्ष का उपसम्पन्न हो।

महासांघिक भिक्षुणीविनय के अनुसार भिक्खुनोवादक भिक्षु को निम्न १२ अंगों (द्वादशेहि अंगेहि) में निष्णात होना चाहिए।[1]

(१) प्रतिमोक्ष नियमों का ज्ञाता हो।
(२) शिक्षापदों को सम्यक् रूप से सिखाने वाला हो।
(३) बहुश्रुत हो।
(४) अधिचित्त शिक्षाप्रदान करने में समर्थ हो।
(५) अधिशील शिक्षा प्रदान करने में समर्थ हो।
(६) अधिप्रज्ञा शिक्षा प्रदान करने में समर्थ हो।
(७) अखण्डित ब्रह्मचर्य वाला हो।
(८) क्षमाशील हो।
(९) भिक्षुणियों के गुरुधर्मों का ज्ञाता हो।
(१०) मधुरवाणी (कल्याणवाचा) बोलनेवाला हो।
(११) सूत्रों का स्पष्ट तथा दोष-रहित अर्थ बतानेवाला हो।
(१२) २० वर्ष या इससे अधिक वर्ष का उपसम्पन्न हो।

ओवाद-थापन

भिक्षुणियों के लिए निर्धारित यह एक प्रकार का दण्ड था। जो भिक्षुणी भिक्षुओं से उचित व्यवहार नहीं करती थी, उसे यह दण्ड दिया जाता था। सर्वप्रथम उसे विहार में आने से मना कर दिया जाता था (आवरण-विहारप्पवेसने निवारणं)। यदि इस पर भी वह कोई ध्यान नहीं देती थी, तो उसे भिक्षु से उपदेश सुनने से मना कर दिया जाता था। ऐसी भिक्षुणी को उपोसथ में दूसरी भिक्षुणी के साथ शामिल होने का अधिकार नहीं था।[2] योग्य भिक्षु ही भिक्षुणी को ओवाद-थापन का दण्ड दे सकता था। अयोग्य अथवा असमर्थ (बाला, अब्यत्ता) भिक्षु को यह दण्ड देने का अधिकार नहीं था। यदि वह अनुचित रूप से इस अधिकार

---

१. भिक्षुणी विनय, §९७.
२. चुल्लवग्ग, पृ० ३८२-८३; समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १३८४.

का प्रयोग करता था, तो उसे दुक्कट-दण्ड का प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[1] वह भिक्षु जो भिक्षुणी को ओवाद-थापन का दण्ड देता था, बिना निर्णय दिये कहीं बाहर नहीं जा सकता था—अन्यथा वह भी दुक्कट के दण्ड का भागी होता था।[2]

उपदेश का अनुपयुक्त समय :

कुछ विशेष परिस्थितियों में उपदेश देने या सुनने का निषेध किया गया था।[3] जैसे—(१) अकाले (सूर्यास्त के बाद)[4], (२) अदेशे (अनुपयुक्त स्थान पर जैसे द्यूतशाला, पानागारशाला, वधनागारशाला के समीप, जहाँ बहुत शोर हो रहा हो, (३) अनागत काल (प्रतिपदा तथा द्वितीया को), (४) अति-क्रान्तिकाल (चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को), (५) यदि कम भिक्षुणियाँ हों (न छन्दसो), (६) व्यग्रता में हो (न व्यग्रसो), (७) परिषद की बैठक का समय हो (न पार्षदो), (८) उपदेश अधिक विस्तार से हो (न दीर्घो वादेन) (९) उपदेशक कामी हो (आगन्तुकामस्य)।[5]

बौद्ध भिक्षुणियों के प्रवारणा सम्बन्धी नियम :

वर्षावसान के पश्चात् प्रत्येक भिक्षुणी को प्रवारणा करनी पड़ती थी अर्थात् भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष वर्षाकाल में हुए दृष्ट, श्रुत तथा परिशंकित अपराधों की आलोचना करनी पड़ती थी। यदि वे दोषो पायी जाती थीं तो संघ द्वारा दिये गये दण्ड को उन्हें स्वीकार करना पड़ता था। इसके पश्चात् ही वे शुद्ध होती थीं। प्रवारणा न करने पर उन्हें प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जाता था।[6] भिक्षुणियों को पहले भिक्षुणी-संघ में प्रवारणा करके तदनन्तर भिक्षु-संघ में प्रवारणा करने का विधान था।

जिन प्रमुख कारणों से भिक्षुणियों को वर्षाकाल में भिक्षुओं के साथ रहना अनिवार्य था, उनमें प्रवारणा का नियम भी एक कारण था।

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३८३.
२. वही, पृ० ३८३.
३. भिक्षुणी विनय, §९९-१००.
४. पातिमोक्ख, भिक्खु पाचित्तिय, २२.
५, वही, २४.
६. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५७.

वर्षावास के अवसान के तुरन्त पश्चात् उन्हें भिक्षु-संघ के समक्ष प्रवारणा करनी पड़ती थी—अतः उनके लिए यह सुविधाजनक था कि वर्षाकाल के पश्चात् भिक्षु-संघ की तलाश में इधर-उधर परिभ्रमण करने के बजाय वे भिक्षु-संघ के साथ ही वर्षावास करें।

अन्य नियमों की तरह प्रवारणा के सम्बन्ध में भी भिक्षुणियों के लिए अलग से नियम निर्धारित नहीं किये गये थे, अतः भिक्षुओं के नियम भिक्षुणियों के ऊपर भी लागू होते होंगे—यह अनुमान करना अनुचित नहीं।

प्रवारणा की तिथि :

प्रवारणा की दो तिथियाँ थीं—चतुर्दशी अथवा पूर्णमासी।[1] वर्षावास की समाप्ति पर पड़ने वाली इन दो तिथियों (आश्विन या कार्तिक मास) के दिन प्रवारणा करने का विधान था।[2]

प्रवारणा की विधि :

प्रत्येक भिक्षुणी सर्वप्रथम भिक्षुणी-संघ के समक्ष उपस्थित होती थी तथा विनीत भाव से कहती थी कि वर्षावास में देखे, सुने तथा परिशंकित अपराधों की मैं प्रवारणा करती हूँ। दोषी सिद्ध होने पर मैं उनका प्रतिकार करूँगी। इस प्रकार वह तीन बार संघ को सूचित करती थी।[3] तदनन्तर उसे भिक्षु-संघ के समक्ष भी इसी प्रकार की प्रवारणा करनी पड़ती थी। रोगी को भी संघ के समक्ष उपस्थित होना पड़ता था। यदि वह संघ के समक्ष जाने में असमर्थ होती थी, तो उसकी प्रवारणा कोई और भिक्षुणी कर सकती थी। परिस्थितिवश संघ को भी वहाँ स्वयं जाकर प्रवारणा लेने का निर्देश दिया गया था। ऐसी स्थिति में समग्र संघ के जाने का विधान था।[4]

प्रवारणा करना अत्यावश्यक था, परन्तु किसी भी परिस्थिति में दोषयुक्त प्रवारणा नहीं की जा सकती थी। प्रवारणा कर रहे भिक्षु

---

१. महावग्ग, पृ० १६८.

२. वही, पृ० १६७.

३. "संघ, आवुसो, पवारेमि दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसंकाय वा।
वदन्तु मं आयस्मन्तो अनुकम्पं उपादाय। पस्सन्तो पटिकरिस्सामि"
वही, पृ० १६७.

४. वही, पृ० १६९.

अथवा भिक्षुणी का यदि बीच में ही दोष (अपराध) मालूम हो जाता था तो उसकी प्रवारणा स्थगित कर दी जाती थी। परन्तु यदि किसी भिक्षु अथवा भिक्षुणी की प्रवारणा समाप्त हो चुकी होती थी, तो वह प्रवारणा स्थगित नहीं मानी जाती थी।[1] जिस भिक्षु या भिक्षुणी का दृष्ट, श्रुत अथवा परिशंकित दोष सिद्ध हो जाता था, उसे नियमानुसार दण्डित कर शुद्ध किया जाता था। परन्तु यदि दोष सिद्ध नहीं हो पाता था तो झूठे दोषारोपण लगाने वाले को ही दण्डित किया जाता था।[2] प्रवारणा के पश्चात् वह कहीं आने-जाने के लिए स्वतन्त्र थी। उसे कम से कम ५-६ योजन तक भ्रमण करने का विधान बनाया गया था। इस नियम का अतिक्रमण करने पर उसे प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जाता था।[3]

यद्यपि भिक्षुओं को भी संघ के समक्ष प्रवारणा करने का विधान था, परन्तु पूरे संघ के विद्यमान न होने पर वह दो, तीन की संख्या में अथवा अकेले भी प्रवारणा कर सकता था तथा इस प्रकार वह अपने को दोषों से शुद्ध कर सकता था।[4] परन्तु इस तरह की छूट भिक्षुणियों को प्राप्त नहीं थी। उन्हें दोनों संघों के समक्ष प्रवारणा करनी पड़ती थी।

आवश्यकतानुसार प्रवारणा अत्यन्त संक्षिप्त की जा सकती थी, जैसे— राजा की तरफ से विघ्न हो, चोर-डाकू का खतरा हो, साँपों या हिंसक जानवरों का भय हो या ब्रह्मचर्य की सुरक्षा में विघ्न उपस्थित होने का भय हो।[5]

आवास (विहार) सम्बन्धी नियम

जैन भिक्षुणी विहार (उपाश्रय) : वर्षाकाल के चार महीने एक स्थान पर तथा वर्षावसान के बाद वर्ष के शेष आठ महीने एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विचरण करते हुए प्रत्येक भिक्षुणी को रुकने (ठहरने) की जगह खोजनी पड़ती थी। जहाँ वे रुकती थीं, उसे ही उपाश्रय कहते थे। उपाश्रय की खोज बहुत ही सावधानीपूर्वक करनी पड़ती थी। इस सन्दर्भ में उसे अनेक निर्देश दिये गये थे। जीव-जन्तुओं तथा कीड़ों-मकोड़ों से

---

१. महावग्ग, पृ० १८९-९०.
२. वही, पृ० १९१-९३.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ४०.
४. महावग्ग, पृ० १७३.
५. वही, पृ० १८८-८९.

युक्त उपाश्रय में ठहरना निषिद्ध था।[१] उपाश्रय यदि उद्देश्यपूर्वक बनाया गया हो, खरीदा गया हो या उधार लिया गया हो, तो ऐसे उपाश्रय में भिक्षुणियों को रुकने की अनुमति नहीं थी।[२] इसी प्रकार उपाश्रय यदि सद्यः गोबर से लीपा-पोता गया हो, चूना लगाकर ठीक किया गया हो, धूप आदि से सुगन्धित किया गया हो या उक्त भवन का उपयोग अभी तक किसी दूसरे ने नहीं किया हो, तो नियमानुसार वे वहाँ नहीं ठहर सकती थीं।[३] इस निषेध के मूल में यह भावना दृष्टिगोचर होती है कि गृहस्थ श्रावक के ऊपर उपाश्रय के लिए अतिरिक्त भार न पड़े।

आचारांग में गृहस्थों के संसर्ग वाले उपाश्रय में ठहरना भिक्षुणी के लिए निषिद्ध किया गया है।[४] यह निषेध इसलिए किया गया था कि ऐसे मकान में साध्वी के रोगी आदि होने पर विवश होकर गृहस्थ को उसकी सेवा करनी पड़ेगी। परन्तु बृहत्कल्पसूत्र में ऐसे उपाश्रय में भिक्षुणी को ठहरने की अनुमति दी गयी है, जिसमें आने-जाने का मार्ग गृहस्थ के घर के मध्य में से होकर हो।[५] इसी प्रकार भिक्षुणी प्रतिबद्धशय्या वाले उपाश्रय में रह सकती थी।[६] प्रतिबद्ध उपाश्रय वह है, जिसकी दिवालें अथवा उसका कोई भाग गृहस्थ के घर से जुड़ा हो। इन विरोधी नियमों को देखकर शंका का होना स्वाभाविक है, शंका का समाधान करते हुए बृहत्कल्पभाष्यकार का कहना है कि साध्वियों को ऐसे उपाश्रय में ठहरने का अभिप्राय इतना ही है कि यदि निर्दोष उपाश्रय न मिले तो साध्वी उसमें ठहर सकती है।[७] भाष्यकार का कहना है कि ऐसे उपाश्रय में यदि गृहस्थ की पितामही, मातामही, माता, बुआ, बहन, लड़की आदि रहती है, तो साध्वी उसमें ठहर सकती थी, क्योंकि उनके साथ रहने में भिक्षुणियों की संयम विराधना की कोई सम्भावना नहीं रहती।[८]

---

१. आचारांग, २/२/१/१; २/२/२/५.
२. वही, २/२/१/३.
३. वही, २/२/१/४-८.
४. वही, २/२/१/१०-१४; २/२/२/१-४
५. बृहत्कल्पसूत्र, १/३४-३५.
६. वही, १/३३.
७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २६१६.
८. वही, २६१८-२०.

दिगम्बर भिक्षुणियों के उपाश्रय सम्बन्धी नियम : श्वेताम्बर भिक्षुणियों के समान दिगम्बर भिक्षुणियों को भी उपयुक्त उपाश्रय में ठहरने का निर्देश दिया गया था। जीव-जन्तुओं से युक्त[1] तथा उद्देश्यपूर्वक निर्मित[2] उपाश्रय में ठहरना निषिद्ध था। भिक्षुणियों को संदिग्ध चरित्र वाले गृहस्थों के उपाश्रयों में ठहरने का भी निषेध किया गया था। उपाश्रय में अकेली भिक्षुणी का ठहरना निषिद्ध था। उन्हें दो-तीन या इससे अधिक की संख्या में ही एक साथ ठहरने का विधान किया गया था।[3] संघ में भिक्षुणियों की रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि था, अतः उन्हें परस्पर मिल कर एवं परस्पर रक्षा में तल्लीन तथा लज्जा, मर्यादा के साथ ठहरने की सलाह दी गई थी।[4]

दोनों सम्प्रदायों के आवास सम्बन्धी इन नियमों से स्पष्ट है कि जैन भिक्षु एवं भिक्षुणियों को उस उपाश्रय या विहार में रहना निषिद्ध था, जो उनके निमित्त बना हो या उनके निवास के निमित्त उसकी रँगाई, पुताई या मरम्मत की गई हो। सामान्यतया गृहस्थों के खाली मकानों, देवालयों आदि में ही उनके ठहरने का विधान था, परन्तु ये नियम केवल आदर्श-मात्र ही प्रतीत होते हैं। जैन भिक्षुओं के निवास के लिए गुफाओं या विहारों के निर्माण के उल्लेख ईसा पूर्व की शताब्दियों से ही प्राप्त होने लगते हैं। मथुरा के एक शिलालेख से[5] ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य के एक जैन मन्दिर के विद्यमान होने का प्रमाण प्राप्त होता है। इसमें उत्तरदासक नामक एक श्रावक द्वारा एक पासाद-तोरण समर्पित किये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार भदन्तजयसेन की अन्तेवासिनी धर्मघोषा द्वारा एक पासाद के दान का उल्लेख है।[6] इसी प्रकार एक दूसरे उत्कीर्ण शिलालेख पर वासु नामक गणिका द्वारा एक अर्हत मन्दिर, सभा-भवन (आयाग-सभा), प्रपा (प्याऊ) और एक शिलापट्ट के समर्पित किये जाने का उल्लेख है।[7] मथुरा संग्रहालय के ही एक खण्डित आयाग-पट्ट पर

१. मूलाचार, ९/१९.
२. वही, १०/५८-६०.
३. वही, ४/१९१.
४. वही, ४/१८८.
5. A List of Brahmi Inscriptions, 93.
6. Ibid, 99.
7. Ibid, 102.

"विहार" शब्द अंकित है।[१] बौद्ध ग्रन्थ महावंस[२] के अनुसार सिंहल नरेश पाण्डुकाभय ने निर्ग्रन्थों (जैन भिक्षुओं) के लिए विहार निर्मित करवाया था। इसी प्रकार हाथीगुम्फा अभिलेख[३] से भी जैन भिक्षुओं के लिए गुफा-विहारों के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन भिक्षु एवं भिक्षुणी इन मन्दिरों एवं विहारों में रहने लगे थे। "प्राकृतिक गुफाओं को इस प्रकार से परिवर्तित किया गया कि वे आवास के योग्य बन सकीं। ऊपर, बाहर की ओर लटकते हुए प्रस्तर-खण्ड को शिला-प्रक्षेप के रूप में इस प्रकार काटा गया कि उसने वर्षा के जल को बाहर निकालने तथा नीचे शरण-स्थल बनाने का काम किया। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शय्याएँ बनायी गयीं, जिनका एक छोर तकिए के रूप में प्रयोग करने के लिए कुछ उठा हुआ रखा गया। शय्याओं को छेनी से काट-काटकर चिकना किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ पर तो पालिश भी की गयी थी"।[४]

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वितीय-प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से ही जैन भिक्षुओं के लिए विहार निर्मित होने लगे थे। इन विहारों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु भूमि-दान की प्रथा भी आरम्भ हुई। गुप्त-सम्राट बुद्धगुप्त के शासन-काल का पहाड़पुर से प्राप्त एक ताम्रपत्र उल्लेखनीय है। इसमें एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा जैन-विहार को भूमिदान देने का उल्लेख है।[५]

यद्यपि जैन भिक्षुणियों के लिए निर्मित किसी विशिष्ट विहार का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, परन्तु यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इन विहारों का उपयोग भिक्षुणियाँ भी करती रही होंगी क्योंकि विहार में रहने की उनकी आवश्यकता भिक्षु-समुदाय से कहीं अधिक थी।[५]

बौद्ध भिक्षुणी-विहार

ऐसा प्रतीत होता है कि महात्मा बुद्ध मूलतः बौद्ध भिक्षु-संघ या भिक्षुणी-संघ के आवास या विहार के निर्माण के समर्थक नहीं थे। भिक्षुओं को उपसम्पदा के समय जिन चार निश्रयों की शिक्षा दी जाती थी, उसमें से

---

१. जैनकला एवं स्थापत्य, भाग प्रथम, पृ० ५४.
२. महावंस, १०/९७-९८.
३. Epigraphia Indica, Vol. 20, P. 72.
४. जैनकला एवं स्थापत्य, भाग प्रथम, पृ० ९७.
5. Epigraphia Indica, Vol. 20, P. 59.

एक निश्रय के अनुसार उन्हें वृक्ष के नीचे निवास करना था।[१] भिक्षुणियों के लिए इस निश्रय का विधान नहीं था। उन्हें वृक्ष के नीचे या जंगल में रहने की अनुमति नहीं थी[२], क्योंकि भिक्षुणी के अकेले रहने या जंगल में रहने पर शील-अपहरण का भय उपस्थित हो सकता था। इससे प्रकट होता है कि संघ में भिक्षुणियों के प्रवेश के अनन्तर उनकी सुरक्षादि की दृष्टि से उनके लिए विहार की व्यवस्था स्वीकार कर ली गई। भिक्षुणियों को विहार-निर्माण करने की अनुमति बुद्ध ने स्वयं दी थी। भिक्षुणियाँ स्वयं भी विहार-निर्माण का कार्य कर सकती थीं।[३] श्रावस्ती में राजकाराम नामक प्रसिद्ध भिक्षुणी-विहार था, जिसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में अनेक बार आया है। विहार में अनेक कमरे होते थे। इन कमरों को "परिवेण" कहा जाता था। श्रावस्ती के एक भिक्षुणी-विहार में भिक्षुणी काली के एक व्यक्तिगत कमरे का उल्लेख है।[४] सिंहली ग्रन्थों से भी तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में भिक्षुणियों के लिए निर्मित विहारों का उल्लेख प्राप्त होता है। भिक्षुणी संघमित्ता के ठहरने के लिए देवानांपियतिस्स ने हत्थाल्हक विहार बनवाया था।[५] उसे हत्थाल्हक विहार इसलिए कहते थे, क्योंकि उसके समीप ही हाथी बाँधने का स्थान था। थेरी संघमित्ता के लंका पहुँचने पर सर्वप्रथम उपासिका-विहार में ठहरने का उल्लेख है।[६] यहाँ १२ भवन बनाये गये थे। बौद्ध धर्म के अन्य निकायों के अस्तित्व में आने पर भी यह हत्थाल्हक विहार उन्हीं भिक्षुणियों के ही अधीन रहा।

कभी-कभी बौद्ध भिक्षुणी-विहारों के समीप अन्य धर्मावलम्बियों के भी आवासों का उल्लेख प्राप्त होता है। श्रावस्ती के एक बौद्ध भिक्षुणी-विहार के समीप जैन भिक्षुओं के निवास का उल्लेख मिलता है। इन दोनों विहारों के मध्य में एक दीवाल (कन्था) थी, जिसके गिर जाने पर बौद्ध भिक्षुणियों तथा जैन भिक्षुओं के मध्य कटुवादाविवाद हुआ था।[७]

---

१. "रुक्खमूलसेनासनं" महावग्ग, पृ० ५५.

२. चुल्लवग्ग, पृ० ३९९.

३. वही, पृ० ३९९.

४. आर्याए कालीए परिवेणम्, भिक्षुणी विनय §१५८.

५. महावंस, १९/८१-८३.

६. वही, १९/६८-७१.

७. भिक्षुणी विनय, §१३९.

बौद्ध भिक्षुणियों के विहार सम्बन्धी इन साहित्यिक साक्ष्यों का समर्थन आभिलेखिक साक्ष्यों से भी होता है। प्रथम शताब्दी ईस्वी के जुन्नार बौद्ध गुफा अभिलेख में एक बौद्ध भिक्षुणी-विहार का उल्लेख मिलता है। यह भिक्षुणी-उपाश्रय स्थविरवाद के धर्मोत्तरीय निकाय का था।[1] अभिलेखों में कुछ भिक्षुणियों के लिए विहारस्वामिनी शब्द का प्रयोग हुआ है। जिन भिक्षुणियों के ऊपर विहार की व्यवस्था का उत्तरदायित्व रहता था, उन्हें विहारस्वामिनी कहा जाता था। कनिष्क के सुई विहार अभिलेख में बालनन्दी को विहारस्वामिनी कहा गया है।[2] इसी प्रकार मथुरा से प्राप्त गुप्त सम्वत् १३५ (४५४ ईसवी) के एक अभिलेख में देवदत्ता नामक भिक्षुणी को विहारस्वामिनो कहा गया है।[3]

फ्लीट के अनुसार 'विहारस्वामिनी' शब्द किसी धार्मिक पद की सूचना नहीं देता, अपितु इसका अर्थ विहारस्वामी की पत्नी से है,[4] परन्तु इस विचार से सहमत होना कठिन है। भिक्षुणियाँ विहार-निर्माण का कार्य (नवकम्म) कर सकती थीं। इसकी अनुमति स्वयं बुद्ध ने दी थी। अभिलेखों में भिक्षुणियों के लिए नवकम्मक (नवकर्मिक) शब्द का प्रयोग किया गया है। अमरावती से प्राप्त एक बौद्ध अभिलेख में भिक्षुणी बुद्धरक्षिता को "नवकम्मक" कहा गया है।[5] उपासक साल्ह ने एक भिक्षुणी-विहार बनवाने में भिक्षुणी सुन्दरीनन्दा की सहायता ली थी।[6] "नवकम्मक" का अर्थ उस भिक्षुणी से है, जो आवास या विहार के निर्माण से सम्बन्धित थी या उसकी मरम्मत आदि कराने में सहयोग करती थी। अतः विहारस्वामिनी भिक्षुणी का तात्पर्य विहारस्वामी की पत्नी से नहीं है, बल्कि ऐसी भिक्षुणियों से है, जो विहार की व्यवस्था आदि का कार्य देखती थीं या नये विहार का निर्माण करवाती थीं।

---

1. A List of Brahmi Inscriptions, 1152, 1155.
2. Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. II, Part I, P. 141.
3. Ibid, Vol. III, p. 263.
4. 'Viharswamini seems, not to be a technical religious title denoting an office held by females, but to mean simply the wife of a 'Viharswamin'.
   —Ibid, vol. III, P. 263.
5. A List of Brahmi Inscriptions, 1250.
६. पाचित्तिय पालि, पृ० २८४.

• **तुलना**—इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्षाकाल की असुविधाओं से बचने के लिए तथा भिक्षुणियों की सुरक्षा के लिए प्रारम्भ से ही दोनों संघों में विहार निर्मित होने लगे थे। जैन भिक्षु-भिक्षुणियों को यद्यपि उद्देश्यपूर्वक निर्मित भवन या उपाश्रय में रहना निषिद्ध था, परन्तु यहाँ हम इन नियमों का अपवाद देखते हैं। यह अवश्य है कि बौद्ध भिक्षुणियों के लिए श्रावस्ती के राजकाराम भिक्षुणी-विहार जैसे विशिष्ट विहार निर्मित हुए थे, परन्तु जैन भिक्षुणियों के लिए इस प्रकार के किसी विशिष्ट विहार का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार किसी जैन साहित्यिक तथा आभिलेखिक साक्ष्य में किसी भिक्षुणी को "नवकम्मक" अथवा विहार-स्वामिनी" नहीं कहा गया है।

चतुर्थ अध्याय

जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों की दिनचर्या

जैन भिक्षुणियों की दिनचर्या

उत्तराध्ययन[1] में जैन भिक्षु की दिनचर्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी आधार पर भिक्षुणियों की भी दिनचर्या का अनुमान किया जा सकता है।

दिन और रात को चार भागों में विभाजित कर उनका कार्यक्रम निश्चित किया गया था और उसी के अनुसार उन्हें जीवन-निर्वाह करने का निर्देश दिया गया था। दिन के चार भागों में प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षा-गवेषणा एवं भोजन और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का विधान था।[2] दिन के समान रात्रि के भी चार भाग किय गये थे। रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में शयन तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का विधान था।[3]

भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड (पात्र) का प्रतिलेखन कर गुरु की वन्दना करे। फिर गुरु से यह पूछे कि "अब मुझे क्या करना चाहिए (कि कायव्वं मए इहं") किसी कार्य में नियुक्त किए जाने पर उसे अग्लान भाव से सम्पन्न करने का निर्देश दिया गया था। कोई कार्य न रहने पर उसे स्वाध्याय करने का विधान था।[4] द्वितीय तथा तृतीय प्रहर क्रमशः ध्यान तथा भिक्षा-वृत्ति के लिए निश्चित थे। चतुर्थ प्रहर में उपकरणों के प्रतिलेखन के पश्चात् उसे पुनः स्वाध्याय करना होता था। इसके अतिरिक्त षट् आवश्यक कृत्यों का भी सम्पादन करना होता था। सामायिक, स्तवन

---

१. उत्तराध्ययन, २६ वां अध्याय।

२. पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥ —वही, २६/१२.

३. वही, २६/१८.

४. वही, २६/८-१०.

वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान—ये षट् आवश्यक कृत्य थे।[1] इस प्रकार प्रत्येक जैन भिक्षुणी के सामायिक, स्तवन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान और प्रतिलेखन, आलोचना ,ध्यान, स्वाध्याय तथा भिक्षा -गवेषणा दिनचर्या के प्रमुख कृत्य थे।

षडावश्यक

(१) **सामायिक**—चित्त में समताभाव का आना ही सामायिक है। लाभ-हानि, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में राग-द्वेष रहित होना ही सामायिक कहलाता है।

(२) **स्तवन**—चौबीस तीर्थंकरों की श्रद्धापूर्वक स्तुति करना स्वतन है।

(३) **वन्दन**—इसी प्रकार मन, वचन एवं शरीर से शुद्ध होकर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, गुरु आदि को विधिपूर्वक नमन करना वन्दन है।

(४) **प्रतिक्रमण**—दैनिक क्रियाओं में प्रमाद आदि के कारण दोष लगने पर उनकी निवृत्ति के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक था। प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को बन्द करता है तथा विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करते हुए सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है।[2] स्थानांग में प्रतिक्रमण के छः भेद बताए गये हैं।[3]

(१) उच्चारपडिक्कमण—मल-त्याग करने के बाद अपने स्थान पर आकर ईर्या-पथ तथा मल-विसर्जन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना।

(२) पासवणपडिक्कमण—मूत्र-त्याग करने के बाद ईर्या-पथ तथा मूत्र-विसर्जन सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना।

(३) इत्तरिय—अल्पकालिक अथवा दिन या रात्रि में हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना।

(४) आवकहिय—सल्लेखना करते समय आजीवन के लिए ग्रहित महाव्रतों के दोषों का प्रतिक्रमण करना।

---

१. सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनायां प्रतिक्रमे
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य संवरः।
—योगसारप्राभृत, ५/४६.

२. उत्तराध्ययन, २९/१२.

३. स्थानांग, ६/५३८.

(५) जं किंचि मिच्छा—जो मिथ्या आचरण हुआ हो, उसका प्रतिक्रमण करना।

(६) सोमणंतिय—स्वप्न में हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना।

प्रतिक्रमण के पश्चात् विशुद्ध होकर गुरु की वन्दना की जाती थी। उसके पश्चात् कायोत्सर्ग करने का विधान था।[१]

(५) **कायोत्सर्ग**—कायोत्सर्ग जैन भिक्षुणी की दिनचर्या का अंग था। कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्त करने वाला कहा गया है।[२] इसका मुख्य ध्येय शरीर को स्थिर रखकर एकाग्रचित्त से अपने दोषों का चिन्तन करना था। कायोत्सर्ग का अर्थ देह के प्रति ममत्व का त्याग करना या देहभाव से ऊपर उठना था।

चोलपट्टग को जानु (घुटनों) के चार अंगुल ऊपर रखकर (चतुर्भिरङ्गुलैर्जानुनोरुपरि) तथा नाभि के चार अंगुल नीचे रखकर (नाभेश्चाधश्चतुर्भिरङ्गुलै), पैरों के बीच में चार अंगुल की दूरी रखकर, मुखवस्त्रिका को दाहिने हाथ में पकड़कर तथा रजोहरण को बाएँ हाथ में पकड़कर, बाहों को नीचे फैलाकर, स्थिरतापूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान था। कायोत्सर्ग किसी भी अवस्था में खण्डित नहीं होना चाहिए—भले ही कायोत्सर्ग करते हुए सर्प डँस ले (सर्पाद्युपद्रवेऽपि) अथवा अलौकिक शक्तियाँ विघ्न डालें (दिव्योपसर्गेष्वपि)।[३]

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करने तथा यथोचित तप स्वीकार कर सिद्धों की स्तुति (सिद्धाणसंथवं) करने का विधान था।[४]

(६) **प्रत्याख्यान**—सांसारिक विषयों का त्याग ही प्रत्याख्यान कहा जाता था। प्रत्याख्यान द्वारा नित्य के आहारादि में विशिष्ट पदार्थ का विशिष्ट समय के लिए त्याग किया जाता था। यह विश्वास किया गया था कि इससे इच्छाओं का निरोध होता है और संयम की वृद्धि होती है।

प्रतिलेखन

वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का सम्यक् प्रकार से परिमार्जन करना ही प्रतिलेखन कहा जाता है। यह इसलिए आवश्यक था ताकि उपकरणों में रहे हुए किसी जीव-जन्तु की किसी भी प्रकार की हिंसा न हो।

---

१. उत्तराध्ययन, २६/४२.
२. "कायवोस्सग्गे सव्वदुक्खविमोक्खणे" वही, २६/४७.
३. ओघनिर्युक्ति, ५१२-१४.
४. उत्तराध्ययन, २६/५२.

• सर्वप्रथम भिक्षा-पात्र का प्रतिलेखन कर मुखवस्त्रिका तथा प्रमार्जिका (गोच्छग) का प्रतिलेखन किया जाता था। वस्त्र का प्रतिलेखन करते समय पहले उत्कुटुक आसन मे बैठकर वस्त्र को स्थिरतापूर्वक देखने तथा पुनः वस्त्र को खोलकर (पप्फोडे) ध्यानपूर्वक उसका प्रमार्जन करने का विधान था।[1]

प्रतिलेखन करते समय यह ध्यान रखा जाता था कि वस्त्र या शरीर इधर-उधर हिले-डुले नहीं (अणच्चावियं अवलियं), वस्त्र आँख से ओझल न हो (अणाणुबन्धि) और न वस्त्र का दीवाल आदि से सम्पर्क हो (अमोसलिं)। प्रमार्जन करते समय वस्त्र में यदि कोई जन्तु चिपका हो तो उसे सावधानीपूर्वक विशोधन कर देने का विधान था।[2] (पाणीपाणविसोहणं)

प्रतिलेखन करते समय परस्पर वार्तालाप करना, पढ़ना, पढ़ाना या कथा कहना निषिद्ध था।[3] प्रतिलेखन के अनेक दोषों का उल्लेख किया गया है यथा—आरभडा (एक वस्त्र का पूरी तरह प्रतिलेखन किए बिना दूसरे वस्त्र के प्रतिलेखन में लग जाना), सम्मद्दा (वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने मुड़ जाँय) मोसली (प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर-नीचे या इधर-उधर करना, (जोर से झटकना), पप्फोडणा विक्खित्ता (प्रतिलेखित वस्त्र को अप्रतिलेखित वस्त्र पर रख देना), वेइया (प्रतिलेखन करते समय हाथ को इधर-उधर हिलाना-डुलाना), पसिढिल (वस्त्र को ढीला पकड़ना), पलम्ब (वस्त्र का एक कोना पकड़ना जिससे वह नीचे लटक जाय), लोल (वस्त्र का भूमि से सम्पर्क होना), एगामोसा (वस्त्र के बीच में से पकड़कर पूरे वस्त्र को देख जाना), अणेगरूवधुणा (वस्त्र को अनेक बार अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ झटकना), पमाणिपमाय (प्रस्फोटन तथा प्रमार्जन के नियम का उल्लंघन करता), संकिए गणणोवगं (प्रस्फोटन तथा प्रमार्जन के नियम में शंका के कारण हाथ की ऊँगलियों की पर्व-रेखाओं से गणना करना)[4]—इन दोषों से रहित प्रतिलेखन ही शुद्ध माना जाता था।

आलोचना—प्रत्येक भिक्षु-भिक्षुणी को प्रतिदिन अपने द्वारा सेवित

---

१. उत्तराध्ययन, २६/२३-२४.
२. वही, २६/२५.
३. वही, २६/२९.
४. वही, २६/२६-२७.

दोषों या अतिचारों को बताना पड़ता था। अपराध के अनुसार ही गुरु प्रायश्चित्त देता था, इसे ही आलोचना कहा जाता था।[१]

आचार्य तथा उपाध्याय के समक्ष की गयी आलोचना सर्वोत्तम मानी जाती थी।[२] साम्भोगिक (समान समाचारी वाले) भिक्षु-भिक्षुणियों को परस्पर (अन्नमन्नस्स) अर्थात् भिक्षु को भिक्षुणी के समक्ष तथा भिक्षुणी को भिक्षु के समक्ष आलोचना करना निषिद्ध था। आलोचना सुनने योग्य साधु-साध्वी के समक्ष ही आलोचना की जा सकती थी, अन्यथा नहीं।[३] इससे यह स्पष्ट होता है कि भिक्षुणी अपनी प्रवर्त्तिनी अथवा किसी योग्य भिक्षुणी के समक्ष ही आलोचना कर सकती थी।

आलोचना सुनने योग्य व्यक्ति में १० गुणों का होना आवश्यक माना गया था—वह आचारवान् हो, अवधारणावान् (आलोचना करने वाले के समस्त अतिचारों को जानने वाला) हो, व्यवहारवान् हो, अप्रवीडक (आलोचना करने वाले को लाज तथा संकोच से मुक्त करने में समर्थ) हो, प्रकारी (विशुद्धि कराने वाला) हो, अपरिश्रावी (आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने न प्रकट करने वाला) हो, निर्यापक (कठोर प्रायश्चित्त को भी निभाने में सहयोग देने वाला) हो, अपायदर्शी (प्रायश्चित्त-भंग से उत्पन्न दोषों को बताने वाला) हो, प्रियधर्मा हो, दृढ़धर्मा हो।[४]

ऐसे गुरु के समक्ष आलोचना करना निषिद्ध था, जो उपदेश दे रहा हो या अध्ययन में रत हो, ध्यान से न सुनता हो, जो दुर्व्यवहारी हो, प्रमत्त (असावधान) हो, जो आहार कर रहा हो आदि।[५]

ध्यान

चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान कहा गया है।[६] भिक्षु-भिक्षुणियों को दिन और रात्रि—प्रत्येक के दूसरे प्रहर में ध्यान करने का

---

१. "आलोयण" त्ति आलोचनमालोचना अपराधमर्य्यादया लोचनं—दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते"

—ओघनिर्युक्ति, पृ० २५.

२. व्यवहार सूत्र, १/३३.

३. वही, ५/१९.

४. स्थानांग, १०/७३३.

५. ओघनिर्युक्ति, ५१४-१९.

६. चित्तसेगग्गया हवइ झाणं"—ध्यानशतक, २.

निर्देश दिया गया था (बीयं झाणं झियायई)। स्थानांग[1] के अनुसार ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल; आर्त तथा रौद्र अप्रशस्त ध्यान और धर्म तथा शुक्ल प्रशस्त ध्यान माने गए थे।[2] प्रथम दो ध्यान दुःख या संसार के हेतु तथा अन्तिम दो ध्यान मोक्ष के हेतु कहे गए हैं।

धर्म ध्यान से जीव का रागभाव मन्द होता है तथा वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। आत्मा की अत्यन्त विशुद्धावस्था को शुक्ल ध्यान कहा गया है। यह ध्यान धर्म ध्यान के बाद प्रारम्भ होता है। इस ध्यान से मन की एकाग्रता के कारण आत्मा में परम विशुद्धता आती है और कषायों, रागभावों तथा कर्मों का सर्वथा परिहार हो जाता है।

भिक्खायरिय (भिक्षा-गवेषणा)

भिक्षु-भिक्षुणी दोनों के लिए आहार सम्बन्धी अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया था।[3]

सज्झायं (स्वाध्याय)

जैन भिक्षुणी के जीवन में स्वाध्याय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। दिन और रात का प्रथम तथा अन्तिम प्रहर स्वाध्याय के लिए नियत समय था। इस प्रकार दिवस और रात्रि के आठ प्रहर में चार प्रहर (१२ घण्टे) स्वाध्याय के लिए ही समर्पित थे। आगम साहित्य में ऐसी अनेक भिक्षुणियों का उल्लेख मिलता है, जो आगम गन्थों का गहनता से अध्ययन करती थीं तथा उसमें पूर्णता प्राप्त करती थीं। अन्तकृतदशांग में यक्षिणी आर्या के सान्निध्य में पद्मावती[4] आदि तथा चन्दना आर्या के सान्निध्य में काली आदि को[5] ११ अंगों का अध्ययन करने वाली बताया गया है। इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में सुव्रता आर्या के सान्निध्य में द्रोपदी को ११ अंगों का अध्ययन करने वाली बताया गया है।[6]

बौद्ध ग्रन्थ थेरीगाथा की अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) से भी कुछ विदुषी जैन भिक्षुणियों का उल्लेख प्राप्त होता है। थेरी गाथा में भद्रा-

---

१. स्थानांग, ४/२४७.
२. उत्तराध्ययन, ३०/३५; मूलाचार, ५/१९७.
३. द्रष्टव्य—द्वितीय अध्याय।
४. अन्तकृतदशांग, वर्ग ५.
५. वही, वर्ग ८.
६. ज्ञाताधर्मकथा, १/१६.

कुण्डलकेशा[१] तथा नंदुत्तरा[२] नामक ऐसी दो बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख है जिन्होंने बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश के पूर्व जैन भिक्षुणी-संघ में दीक्षा ली थीं। इन दोनों भिक्षुणियों ने जैन संघ में तर्कशास्त्र का अध्ययन किया था। वे इतस्ततः भ्रमण करती हुई शास्त्रार्थ किया करती थीं। भद्राकुण्डलकेशा का सारिपुत्र के साथ तथा नंदुत्तरा का स्थविर महामौद्गल्यायन के साथ शास्त्रार्थ करने का उल्लेख है। इन दोनों भिक्षुणियों ने पराजित होकर बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया था।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन संघ में भिक्षुणियों के अध्ययन का समुचित प्रबन्ध था। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैन भिक्षुणियों को ११ अंगों का ही अध्ययन करने की अनुमति प्रदान की गयी थी। उन्हें १२वाँ अंग, जिसे दृष्टिवाद कहा जाता है, को पढ़ने का निषेध किया गया था।[३] इस निषेध को सबल आधार प्रदान करने के लिए यह तर्क दिया गया था कि स्त्रियाँ निम्न प्रकृति की, गर्वीली तथा चंचल इन्द्रियों से युक्त तथा दुर्बल बुद्धि वाली होती हैं।[४] दृष्टिवाद के समान ही महापरिज्ञा, अरुणोपपात आदि ग्रन्थ भी भिक्षुणियों के लिए निषिद्ध थे।[५] इन ग्रन्थों को "भूतवाद" कहा गया है। इनमें मन्त्र, भूत-प्रेत, अलौकिक शक्तियों से सम्बन्धित वर्णन हैं।

अध्ययन की विधि

अन्तकृतदशांग तथा ज्ञाताधर्मकथा से यह प्रतीत होता है कि भिक्षुणी अपनी दीक्षा प्रदान करने वाली प्रवर्त्तिनी के सान्निध्य में (अन्तिए) ही अध्ययन करती थी। अतः प्रवर्त्तिनी ही भिक्षुणी को अंग आदि आगमों का अध्ययन कराती थी। जैन ग्रन्थों में अध्ययन की पाँच विधियों का उल्लेख किया गया है।—(१) वाचना (वायणा), (२) पृच्छना (पुच्छणा),

१. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, ४६.
२. वही, ४२.
३. "नहि प्रज्ञावत्योऽपि स्त्रियो दृष्टिवादं पठन्ति"
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग प्रथम, १४५ (टीका)।
४. "तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो त्थीणं"
—विशेषावश्यक भाष्य, गाथा संख्या ५५२; बृहत्कल्पभाष्य, भाग प्रथम, १४६.
५. वही, प्रथम भाग, १४६ (टीका)।

(३) आवृत्ति करना (परियट्टणा), (४) मनन करना (अणुप्पेहा), (५) धार्मिक कथाओं को कहना (धम्मकहा)।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन भिक्षु-भिक्षुणी ग्रन्थों में उल्लिखित श्लोकों को सिर्फ याद ही नहीं करते थे, अपितु उनमें निहित मूल भावना को समझने की कोशिश करते थे। एक ग्रन्थ को बार-बार पढ़कर तथा अस्पष्ट विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछकर उसके तत्त्व को पूरी तरह आत्मसात किया जाता था।

अध्ययन का उद्देश्य

अध्ययन का उद्देश्य उच्च था तथा इससे किसी भौतिक सुख को प्राप्त करने की आशा नहीं की जाती थी। इसका मुख्य उद्देश्य था ज्ञान-प्राप्ति (णाणट्ठयाए)। ग्रन्थों के अध्ययन से दर्शन तथा चारित्र की शुद्धि होती थी (दंसणट्ठयाए चरित्तट्ठयाए)। साथ ही यह विश्वास किया गया था कि अध्ययन से दूसरों को मिथ्या अभिनिवेश से मुक्त करने में (वुग्गह-विमोयणट्ठयाए) तथा स्वयं भी यथार्थ तत्त्व को समझने में सरलता होती है (अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीतिकट्टु)।[2]

अध्यापन करना

अन्तकृतदशांग तथा ज्ञाताधर्मकथा से स्पष्ट होता है कि भिक्षुणियाँ अध्यापन कार्य भी करती थीं। दीक्षा प्रदान करने वाली प्रवर्त्तिनी ही पढ़ाने का उत्तरदायित्व वहन करती थी। योग्य भिक्षुणियाँ अपनी शिष्याओं तथा श्राविकाओं को उपदेश प्रदान करती थीं।

परन्तु भिक्षुणी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी। सर्वथा योग्य होते हुए भी उसे भिक्षु को पढ़ाने का अधिकार नहीं था। उत्तराध्ययन[3] में भिक्षुणी राजीमती द्वारा भिक्षु रथनेमि को उपदेश देने का जो उदाहरण उपलब्ध होता है, वह एक अपवाद ही है। रथनेमि के भौतिक वासनापूर्ति के प्रस्ताव को अस्वीकार कर राजीमती ने अत्यन्त कठोर शब्दों में फटकारते हुए उन्हें प्रतिबोधित किया था। इसी प्रकार ब्राह्मी और सुन्दरी ने बाहुबली को प्रतिबोधित किया था। इनके अतिरिक्त अन्य किसी साक्ष्य (साहित्यिक अथवा आभिलेखिक) में किसी भिक्षुणी का भिक्षु के उपदेशक के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। अभिलेखों में भी सर्वत्र

---

१. स्थानांग, ५/४६५; उत्तराध्ययन, ३०/३४.

२. स्थानांग, ५/४६८.

३. उत्तराध्ययन, २२वाँ अध्याय।

भिक्षु को ही उपदेशक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके लिए "गणिनवाचक" तथा "वाचक" के विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। परन्तु किसी भी अभिलेख में भिक्षुणी के लिए इन विशेषणों का प्रयोग नहीं हुआ है।

अनध्याय काल

निम्न परिस्थितियों में भिक्षु-भिक्षुणियों को स्वाध्याय करना निषिद्ध था। यथा—आकाश में उल्कापात होने पर, तेज गर्जना होने पर, तेज आँधी आने पर, अत्यधिक ओस पड़ने पर, आकाश में बिजली आदि चमकने पर, चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण होने पर, राजा अथवा राज्याधिकारी की मृत्यु होने पर, दो राज्यों के मध्य युद्ध छिड़ने पर आदि। इस काल में अध्ययन निषिद्ध था।[1]

इसके अतिरिक्त चार महाप्रतिपदाओं में भिक्षु-भिक्षुणियों को स्वाध्याय करना निषिद्ध था। ये प्रतिपदाएँ निम्न थीं। (१) श्रावण कृष्णा प्रतिपदा. (२) कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, (३) मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, (४) वैसाख कृष्णा प्रतिपदा।[2]

उपर्युक्त अनध्याय काल के अतिरिक्त यदि भिक्षुणी का शरीर रोग से पीड़ित हो तो, उसे अध्ययन से विरत रहने को कहा गया था।[3] भिक्षु को अनध्याय काल (व्यतिकृष्ट काल) में अध्ययन करना सर्वथा निषिद्ध था, यद्यपि नवदीक्षिता भिक्षुणी ऐसे समय में भी किसी भिक्षु की अनुमति से अध्ययन कर सकती थी।[4] ताकि याद किये हुए सूत्र विस्मृत न हों।

वैदिक परम्परा के धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में भी अनध्याय काल को विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। पक्ष की पहली, आठवीं, चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं (पूर्णमासी एवं अमावस्या) नामक तिथियों में वेद का अध्ययन करना निषिद्ध था। याज्ञवल्क्य ने ३७ तात्कालिक अनध्यायों का वर्णन किया है यथा—कुत्ता भौंकने या सियार, गदहा, उल्लू के बोलते रहने पर तथा अर्द्धरात्रि में आदि। इसी प्रकार बिजली के चमकने, वज्रपात या वर्षा होने पर वेदाध्ययन निषिद्ध था।[5]

१. स्थानांग, १०/७१४.
२. स्थानांग, ४/२८५; निशीथसूत्र, १८/१४.
३. निशीथसूत्र, १८/१८.
४. व्यवहार सूत्र, ७/१६; निशीथसूत्र, १८/१६.
५. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २५८-२६१.

तप

• ध्यान के अतिरिक्त जैन भिक्षुणियों के जीवन में तप का अत्यधिक महत्त्व था। तप से समस्त कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मा परिशुद्ध होती है। तप को वह विधि बताया गया है, जिससे बद्ध कर्मों का क्षय करके आत्मा व्यवदान-विशुद्धि को प्राप्त होती है।[1] अन्तकृतदशांग में भिक्षुणी पद्मावती द्वारा ग्यारह अंगों के अध्ययन के साथ ही उपवास, बेला, तेला, चोला, पँचोला, पन्द्रह-पन्द्रह दिन की और महीने-महीने तक के विविध प्रकार की तपस्या करने का उल्लेख है।[2] इसी प्रकार अन्तकृतदशांग से ही ज्ञात होता है कि काली ने रत्नावती तप, सुकाली ने कनकावली तप, महाकाली ने लघुसिंह निष्क्रीडित तप, कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीडित तप, सुकृष्णा ने सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिमा तप, महाकृष्णा ने लघुसर्वतो-भद्र तप, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोतरप्रतिमा तप, पितृसेन कृष्णा ने मुक्तावली तप तथा महासेन कृष्णा ने आयम्बिल-वर्द्धमान नामक तप किया था। इन तपों में विविध संख्याओं में उपवास आदि करने का विधान था, जिसका विस्तृत वर्णन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[3] ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि रत्नावली तप करने के पश्चात् भिक्षुणी काली का शरीर मांस और रक्त से रहित हो गया था। उनके शरीर की धमनियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी थी। शरीर इतना कृश हो गया था कि उठते-बैठते शरीर की हड्डियों से आवाज उत्पन्न होती थी।[4]

दिगम्बर भिक्षुणियों की दिनचर्या

दिगम्बर भिक्षुणियों की दिनचर्या का कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं प्राप्त होता। अतः इनकी भी दिनचर्या श्वेताम्बर भिक्षुणियों के समान रही होगी—यह विश्वास किया जा सकता है।

---

१. "तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? तवेणं वोदाणं जणयइ"
—उत्तराध्ययन, २९/२८.

२. अन्तकृतदशांग, वर्ग ५, अध्याय, १.

३. वही, वर्ग ८, अध्याय, १–१०.

४. तएणं सा काली अज्जा तेणं ओरालेणं जाव धमणिसंतया जाया या वि होत्था। से जहा नामए इंगालसगडी वा जाव सुहुयहुयासणे इव भासरासि-पलिच्छण्णा, तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अईव उवसोभेमाणी चिट्ठइ ॥
—वही, वर्ग ८, अध्याय, १.

दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों के स्वाध्याय का उपयुक्त समय श्वेताम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों के समान ही था। दिन का पूर्वाह्न, अपराह्न तथा रात्रि का पूर्वाह्न-अपराह्न—ये चार प्रहर स्वाध्याय के लिए उपयुक्त माने गये थे।[१] निम्न परिस्थितियों में स्वाध्याय करने से निषेध किया गया था यथा—उल्कापात के समय, मेघ-गर्जन के समय, चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण के समय, धूमकेतु का उदय हो जाने पर तथा भूकम्प आदि के आ जाने पर।[२]

भिक्षुणियाँ ज्ञानाभ्यास में सदा तत्पर रहती थीं। इसी प्रकार वे तप, विनय और संयम से सम्बन्धित नियमों का सम्यक्रूपेण पालन करती थीं।[३] जिस प्रकार श्वेताम्बर भिक्षुणियों को १२ वाँ अंग दृष्टिवाद पढ़ना निषिद्ध था उस प्रकार दिगम्बर भिक्षुणियों के लिए कौन से ग्रन्थ निषिद्ध थे—इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता। उन्हें यह निर्देश अवश्य दिया गया है कि वे गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर द्वारा कथित सूत्रों को अस्वाध्याय काल में न पढ़ें।[४] यद्यपि ऐसे समय में भी उन्हें आराधना, निर्युक्ति, मरण-विभक्ति, स्तुतिप्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा आदि पढ़ने की अनुमति दी गई थी।[५]

दिगम्बर भिक्षुणियों के ध्यान, तप आदि का विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता परन्तु यह विश्वास किया जा सकता है कि दिगम्बर भिक्षुणियाँ भी श्वेताम्बर भिक्षुणियों के समान ध्यान तथा तप में सदा तत्पर रहती रही होंगी।

जैन भिक्षुणी के मृतक-संस्कार

सल्लेखना—जैन ग्रन्थों में सल्लेखना आत्मा को शुद्ध करने वाला अन्तिम व्रत माना गया है। मृत्यु के निकट आ जाने पर अथवा आचार आदि के पालन में शिथिलता होने पर आहार आदि का त्याग करके प्राणों का उत्सर्ग करना ही सल्लेखना है। सल्लेखना में उपवास से शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायों को कृश किया जाता है। ज्ञाताधर्मकथा में

१. मूलाचार, ५/७३.
२. वही, ५/७७-७९.
३. वही, ४/१८९.
४. वही, ५/८०-८१.
५. वही, ५/८०-८२,

भिक्षुणी पोट्टिला के भक्तप्रत्याख्यान (आहार आदि का त्याग करके) द्वारा मृत्यु-प्राप्त करने का उल्लेख है। उसने एक मास की सल्लेखना अर्थात् ६० भक्त का अनशन करके अपना शरीर त्यागा था।[1] इसी प्रकार भिक्षुणी द्रौपदी द्वारा एक मास की सल्लेखना के पश्चात् शरीर त्यागने का उल्लेख है।[2] जैन अभिलेखों में भी भिक्षुणियों के समाधिमरण के उल्लेख प्राप्त होते हैं। श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक जैन अभिलेख में साध्वी गन्ती[3] तथा साध्वी कालब्बे[4] के समाधिमरण का उल्लेख है। इसी प्रकार चन्द्रगिरि पर्वत से प्राप्त एक जैन अभिलेख में साध्वी राजीमती[5] के समाधिमरण का उल्लेख है।

मृत्यु के बाद भिक्षुणियों के कौन-कौन से मृतक संस्कार होते थे—इसका अलग से कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता। बृहत्कल्पभाष्य में भिक्षुओं के मृतक-संस्कार के सम्बन्ध में नियम दिये गए हैं—सामान्य रूप से वे ही नियम भिक्षुणियों के सम्बन्ध में लागू होते रहे होंगे। मृतक शरीर को एक कपड़े से ढँक दिया जाता था तथा मजबूत बाँसों की पट्टियों पर श्मशान-स्थल को ले जाया जाता था। शव को ढँकने के लिए सफेद कपड़ों की तीन पट्टियाँ लगती थीं—एक शव के नीचे बिछाने के लिए, दूसरा शव को ऊपर से ढँकने के लिए तथा तीसरा बाँस की पट्टयों से शव को बाँधने के लिए। मलीन या रंग-बिरंगे कपड़े से शव को ढँकना निषिद्ध था। मृत्यु हो जाने पर शव को तुरन्त बाहर ले जाने का विधान था, परन्तु यदि हिमवर्षा हो रही हो, चोरों और जंगली जानवरों का डर हो, नगर-द्वार बन्द हो गया हो, मृतक अत्यन्त विख्यात हो, मृत्यु के पहले यदि उसने मासादिक उपवास किया हो तथा राजा अपने सेवकों के साथ नगर में आ रहा हो, तो शव को कुछ समय तक रोक देने का विधान था। श्मशान-भूमि में शव का सिर ग्राम या नगर की तरफ रखा जाता था। श्मशान में शव को लिटाकर उसके ऊपर घास आदि को समान रूप से फैला दिया जाता था। इसके पूर्व मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पात्र आदि

१. 'मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाइं'.
—ज्ञाताधर्मकथा, १/१४.

२. वही, १/१६.

३. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ० २८८.

४. वही, प्रथम भाग, पृ० ३७९.

५, वही, प्रथम भाग, पृ० ३१७.

वहीं अलग रख दिये जाते थे। शव में आग नहीं लगाई जाती थी, अपितु सियारों, पिशाचों तथा यक्षों (व्यन्तर) के लिए छोड़ दिया जाता था। वहाँ से लौटने के पश्चात् गुरु के समक्ष कायोत्सर्ग करने तथा अजितनाथ एवं शान्तिनाथ की स्तुति करने का विधान था।[1]

बौद्ध भिक्षुणियों की दिनचर्या

जैन भिक्षुणियों के समान बौद्ध भिक्षुणियों की दिनचर्या का कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं प्राप्त होता। जैन भिक्षुणियों की प्रतिलेखना, आलोचना, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि दिनचर्या के आवश्यक कृत्य थे, बौद्ध भिक्षुणियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के किसी आवश्यक कृत्य का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। फिर भी यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि बौद्ध भिक्षुणियों को भी जैन भिक्षुणियों के समान ही अपनी उपाध्याया या प्रवर्त्तिनी की वन्दना आदि करना अनिवार्य रहा होगा। भिक्खुनी पाचित्तिय के अनुसार उन्हें प्रति पन्द्रहवें दिन भिक्षुसंघ के पास उपोसथ की तिथि पूछने तथा उपदेश सुनने जाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भिक्षा-चर्या भी दिन का एक आवश्यक कृत्य था। भिक्षुणी को विकाल (मध्याह्न के बाद) में भोजन करना निषिद्ध था। अतः उसे भिक्षा की गवेषणा मध्याह्न के पूर्व ही करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुणियों के अध्ययन-अध्यापन तथा ध्यान करने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। परन्तु इसके लिए दिन तथा रात्रि का कौन समय निश्चित था, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

अध्ययन

बौद्ध भिक्षुणियाँ अत्यन्त अध्ययनशील होती थीं। साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से उनकी विद्वत्ता के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। भिक्षुणी क्षेमा का कोशल-नरेश प्रसेनजित से दार्शनिक वार्तालाप हुआ था। उसने प्रसेनजित के गूढ़ दार्शनिक प्रश्नों का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया था। क्षेमा को पण्डिता तथा बहुश्रुता कहा गया है।[2] इसी प्रकार भिक्षुणी धम्मदिन्ना का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसने श्रावक विशाख के गम्भीर प्रश्नों का सहजतापूर्वक उत्तर दिया था। धम्मदिन्ना

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, ५५००-५५५२.

२. "पण्डिता वियत्ता मेधाविनी बहुस्सुता चित्तकथा कल्याणपटिभाना"
—संयुत्त निकाय, ४४/१.

के उत्तरों का समर्थन स्वयं बुद्ध ने भी किया था तथा उसे पण्डिता तथा महाप्रज्ञावान बताया था।[1]

थेरी गाथा से, जिसमें भिक्षुणियों द्वारा अपनी निम्न प्रकृति (मार) के ऊपर विजय-प्राप्ति के समय के उद्गार वर्णित हैं, उनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। थेरी गाथा में ऐसी अनेक भिक्षुणियों का उल्लेख है जिन्हें तीनों विद्याओं में पारंगत बताया गया है।[2]

भिक्षुणी भद्रा कापिलायिनी को अपने आचार्य स्थविर महाकाश्यप के समान तीनों विद्याओं के जानने वाला बताया गया है। साथ ही उसे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाली तथा मार और उसकी सेना को जीतकर अन्तिम देह धारण करने वाली कहा गया है।[3] पटाचारा को विनयधारियों में अग्र कहा गया है।[4] इसी प्रकार जिनदत्ता नामक भिक्षुणी को विनयपिटक की पंडिता, बहुश्रुता तथा सदाचारिणी कहा गया है।[5] सुमेधा को भी शीलवती, वाग्मिनी, बहुश्रुता तथा बुद्ध-शासन के अनुसार शिक्षा पायी हुई बताया गया है।[6]

आभिलेखिक साक्ष्यों से भी भिक्षुणियों की विद्वत्ता की सूचना प्राप्त होती है। मथुरा से प्राप्त हुविष्ककालीन एक अभिलेख (Mathura Buddhist Image Inscription) में भिक्षुणी बुद्धमित्रा को "त्रैपिटिका" कहा गया है।[7] सारनाथ से प्राप्त एक अन्य अभिलेख (Sarnath Buddhist Umbrella Post Inscription) में सम्भवतः उसी भिक्षुणी को त्रैपिटिका कहा गया है—अर्थात् वह तीनों पिटकों की ज्ञाता थी।

---

१. "पण्डिता, विशाख, धम्मदिन्ना भिक्खुनी, महापञ्ञा, विसाख, धम्मदिन्ना भिक्खुनी। मं चे पि त्वं, विसाख, एतमत्थं पुच्छेय्यासि, अहं पि तं एवमेव ब्याकरेय्यं, यथा तं धम्मदिन्नाय भिक्खुनिया ब्याकतं।

—मज्झिम निकाय, १/४४.

२. थेरी गाथा, सं० ४९, ९३, ५८, ५९, ६०, ६१.

३. थेरी गाथा, गाथा, ६५.

४. विनयधरानं यदिदं पटाचारा, —अङ्गुत्तर निकाय, १/१४.

५. थेरी गाथा, गाथा, ४२७.

६. "सीलवती चित्तकथिका बहुस्सुता बुद्धसासने विनीता"

—थेरी गाथा, गाथा, ४४९.

७. List of Brahmi Inscriptions, 38.

उसे अपने गुरु थेरभदन्त बल के समान योग्य बताया गया है।[१] इसी प्रकार साँची से प्राप्त एक अभिलेख (Sanchi Buddhist Stupa Inscription) में अविषिणा नामक भिक्षुणी को "सूतातिकिनी" कहा गया है—अर्थात् या तो वह सूत्रों की ज्ञाता थी या सुत्तपिटक में पारंगत थी।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध भिक्षुणियाँ अध्ययन में गहरी रुचि रखती थीं और बौद्ध ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन कर उनमें पारंगत हुआ करती थीं।

उपदेश एवं अध्यापन

बौद्ध संघ के नियमों के अनुसार भिक्षुणियों को प्रति १५वें दिन भिक्षु-संघ से उवाद (उपदेश) सुनने के लिए जाना पड़ता था। स्पष्ट है, भिक्षु ही भिक्षुणियों को उपदेश देने का अधिकारी था। भिक्षुणी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी, परन्तु वह भिक्षुणी-संघ की भिक्षुणियों को तथा गृहस्थ उपासक-उपासिकाओं को धर्मोपदेश दे सकती थी।

भिक्षुणी शुक्ला द्वारा महती सभा में धर्मोपदेश करने का उल्लेख है—जैसे पथिकगण वर्षा के जल का आनन्दपूर्वक पान करते हैं, उसी प्रकार शुक्ला के मधुर तथा ओजपूर्ण धर्मोपदेश को जन-समुदाय ग्रहण करता है।[३]

भिक्षुणी पटाचारा के उपदेश को अमोघ बताया गया है।[४] पटाचारा ने अपने उपदेश से अनेक दुःखी नारियों को बौद्ध-संघ में प्रवेश के लिए उत्साहित किया था।[५] इसी प्रकार ऋषिदासी धर्मोपदेश करने में अत्यन्त कुशल थी।[६] भिक्षुणी क्षेमा ने विजया को धातु, आयतन, आर्य-सत्य, इन्द्रिय, बल, बोध्यंग, आर्य-मार्ग का उपदेश दिया था।[७] इसी प्रकार वड्ढेसी को एक भिक्षुणी ने स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश

---

१. List of Brahmi Inscriptions, 925.

२. Ibid, 319, 352.

३. "तञ्च अप्पटिवानियं असेचनकमोजवं
पिवन्ति मञ्ञे सप्पञ्ञा वलाहकमिवद्धगू"
—थेरी गाथा, गाथा, ५५.

४. "अमोघो अय्याय ओवादो" —थेरी गाथा, गाथा, १२६.

५. वही, परमत्थदीपनी टीका, ४८,५०.

६. "धम्मदेसना कुसला"—वही, गाथा, ४०४.

७. वही, गाथा, १७०-७१.

दिया था।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक भिक्षुणियाँ गूढ़ प्रश्नों को सरलतापूर्वक समझाने में सक्षम थीं। उन्हें यह निर्देश था कि जो भिक्षुणी विज्ञ न हो, वह कम शब्दों में ही धर्मोपदेश करे।[2]

भिक्षुणियाँ अध्यापन भी करती थीं। प्रवर्त्तिनी को "उपाध्याया" कहा गया है। वह श्रामणेरी को १० शिक्षापदों तथा शिक्षमाणा को दो वर्ष तक षड्धर्मों की सम्यक्रूपेण शिक्षा प्रदान करती थी तथा उनका पालन करवाती थी। प्रवर्त्तिनी द्वारा प्रतिवर्ष दो या एक शिक्षमाणा बनाना निषिद्ध था।[3] इस नियम का प्रतिपादन सम्भवतः ऐसा इसलिए किया गया होगा कि जिससे वह शिक्षमाणा को भली प्रकार शिक्षा प्रदान कर सके। अमरावती से प्राप्त एक बौद्ध अभिलेख (Amaravati Buddhist Stone Inscription) में विनयधर आर्य पुनर्वसु की अन्तेवासिनी समुद्रिका को "उपाध्यायिनी" कहा गया है[4] अर्थात् वह अध्यापन का कार्य करती थी। परन्तु वह केवल भिक्षुणियों को ही पढ़ाती रही होगी, क्योंकि संघ के नियमानुसार कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु को न तो उपदेश दे सकती थी और न पढ़ा सकती थी।

ध्यान तथा समाधि

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों की दिनचर्या में ध्यान तथा समाधि का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। ध्यान के क्षेत्र में ही समाधि का विषय भी अन्तर्भूत हो जाता है। ध्यान की क्रिया से चित्त का परिष्कार अथवा परिशोधन होता है; ध्यान का अर्थ है चिन्तन करना[5]। ध्यान का मुख्य उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति बताया गया है। समाधि शब्द का प्रयोग बौद्ध ग्रन्थों में चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) के लिए किया गया है। बुद्धघोष ने समाधि को "कुसलचित्त की एकाग्रता" कहा है।[6]

---

१. थेरी गाथा, गाथा, ६९.

२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १०३.

३. वही, ८२, ८३.

४. List of Brahmi Inscription, 1286.

५. "झायत्ति उपनिज्झायतीति झानं".

—समन्तपासादिका, भाग प्रथम, पृ० १४५.

६. विशुद्धिमग्ग, पृ० ५७.

बौद्ध ग्रन्थों में ध्यान की चार अवस्थाओं का उल्लेख है। प्रथम ध्यान में काम एवं अकुशल धर्मों से विविक्त होकर चित्त वितर्क-विचार से युक्त अनुभव में निमग्न रहता है। दूसरे ध्यान में वितर्क एवं विचार शान्त हो जाते हैं। चित्त अपने अन्दर समाधिजन्य प्रीति सुख का अनुभव करता है। तीसरे ध्यान में प्रीति भी छूट जाती है। इस ध्यान में ध्येता (ध्यायी) को "सुख-विहारी" कहा गया है। चौथे ध्यान में सुख भी छूट जाता है। इस प्रकार सुख और दुःख, सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से स्मृति-परिशुद्धि का चतुर्थ ध्यान में लाभ होता है।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में भिक्षुणियों के ध्यान करने के अनेकशः उल्लेख प्राप्त होते हैं। भिक्षुणी विमला, जो वैशाली के एक वेश्या की कन्या थी, आनन्दपूर्वक कहती है "वृक्षों के नीचे ध्यानरत हुई मैं अवितर्क ध्यान को प्राप्त कर विहरती हूँ[2]।" भिक्षुणी उत्तमा ने शून्यताध्यान को प्राप्त किया था।[3] इसी प्रकार भिक्षुणी सुमंगलमाता[4] तथा भिक्षुणी शुभा द्वारा[5] वृक्ष के नीचे ध्यान करने का उल्लेख है। भृगुकच्छ की भिक्षुणी वड्ढमाता अपने पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहती है कि अध्यवसायपूर्वक ध्यान करने के कारण उसके सब चित्त-मल नष्ट हो गये हैं।[6] भिक्षुणी नन्दा को ध्यान करनेवालियों में अग्र कहा गया है।[7]

ध्यान के द्वारा ही भिक्षुणियाँ समाधिस्थ होती थीं, जिसमें वे निर्वाण-सुख का आनन्द प्राप्त करती थीं। वे ध्यान में इतनी लीन हो जाती थीं कि अपने को बुद्ध से अलग नहीं मानती थीं, अपितु उनकी औरस तथा मुख-निःसृत कन्या मानने लगती थीं। वे अपने को "ओरसा धीता बुद्धस्स"[8] कहती हैं। ध्यान के द्वारा चित्त इतना निर्मल हो जाता था कि निर्वाण-

---

१. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १२८.
२. "निसिन्ना रुक्खमूलम्हि अवितक्कस्स लाभिनी"—थेरी गाथा, गाथा, ७५.
३. वही, ४६.
४. वही, २४.
५. वही, ३६२.
६. वही, २०९.
७. "झायिनं यदिदं नन्दा" —अङ्गुत्तर निकाय, १/१४.
८. थेरी गाथा, गाथा, ४६.

प्राप्ति में अब कोई अवरोध उपस्थित नहीं हो सकता था, यहाँ तक कि स्त्रीत्व भी अब कोई बाधा नहीं थी ।[1]

पाली साहित्य में भिक्षुणियों द्वारा ध्यान करने की विधि का भी उल्लेख मिलता है। वे पैर धोकर एकान्त स्थान में बैठती थीं। तत्पश्चात् चित्त को एकाग्र कर समाधि में स्थित होती थीं। फिर यह प्रत्यवेक्षण करती थीं कि सभी संस्कार अनित्य हैं, दुःख रूप हैं तथा अनात्म हैं। भिक्षुणियाँ उद्‌गार प्रकट करती हैं कि उन्होंने रात्रि के प्रथम याम में पूर्व-जन्मों को स्मरण किया; मध्यम याम में दिव्य-चक्षुओं को विशोधित किया तथा रात्रि के अन्तिम याम में अंधकारपुंज को नष्ट कर दिया; जब वे आसन से उठीं तो तीनों विद्याओं को पूर्ण ज्ञाता थीं।[2] जब चित्त एकाग्र नहीं हो पाता था, तो वे इसके लिए कठोर प्रयत्न करती थीं। भिक्षुणी उत्तमा सप्ताह भर एक ही आसन पर बैठकर ध्यान करती रही, आठवें दिन उसका अज्ञानान्धकार नष्ट हुआ।[3] भिक्षुणी अनुपमा की वासना का सात रात तक ध्यान करने के बाद मूलोच्छेदन हुआ।[4] इसी प्रकार भिक्षुणी श्यामा को आठवीं रात को दिव्यचक्षु प्राप्त हुआ।[5]

सम्यक्‌रूपेण ध्यान करने से वे अलौकिक शक्तियों से युक्त हो जाती थीं। भिक्षुणी सकुला कहती है कि ध्यान के उत्कर्ष में उसे विशुद्ध, विमल दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई।[6] इसी प्रकार भिक्षुणी वड्ढेसी ध्यान के बाद की अवस्था का वर्णन करते हुए कहती है "अपने अतीतजन्म मुझे ज्ञात हैं, तथा विशोधित हुये मेरे चक्षु दिव्य हैं। परचित्तज्ञान मुझे लब्ध है, अलक्ष्य वस्तुओं को भी मैं श्रवण कर सकती हूँ, योग विभूतियाँ भी मैंने प्राप्त की,

---

१. 'इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते
ञाणम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो"
—थेरी गाथा, गाथा, ६१.

२. वही, ११८-२०, १७२-७४, १७९-८०.

३. वही, ४४.

४. वही, १५६.

५. वही, ३८.

६. वही, १००.

छः अभिज्ञाओं का मैंने साक्षात्कार किया ।[1] ध्यान के पश्चात् वड्ढमाता कहती है कि हीन, मध्यम और उत्तम जितने भी संस्कार हैं, उनकी अणुमात्र भी तृष्णा उसके चित्त में नहीं है ।[2]

ध्यान के स्थल

भिक्षुणियों के ध्यान करने के किसी निश्चित स्थल का उल्लेख नहीं मिलता । संघ के नियमों के अनुसार उन्हें अकेले जंगल में रहना या अकेले घूमना निषिद्ध था । कहीं भी जाने पर भिक्षुणियों की संख्या एक से ज्यादा रहती थी, अतः वे इतनी एकाग्रता के साथ ध्यान करने का अवसर नहीं पाती थीं, जितना कि भिक्षुओं को उपलब्ध था । फिर भी, उपर्युक्त निषेधों के बावजूद, भिक्षुणियाँ ध्यान के लिए एकान्त स्थल की तलाश कर लेतीं थीं । भिक्षुणी दन्तिका ने गृध्रकूट पर्वत के शिखर पर बैठकर ध्यान की साधना की थी तथा उस निर्जन अरण्य में ही अपने चित्त को दमित कर उस पर विजय प्राप्त की थी ।[3] भिक्षुणी शैला[4] का उल्लेख प्राप्त होता है, जो एक बार अन्धवन में एकान्तवास कर रही थी । उसे अकेली पाकर मार ने लोभकारी वचनों से धर्मच्युत करने का प्रयास किया । भिक्षुणी चाला[5] का भोजनोपरान्त अन्धवन में ही ध्यान करने के लिए जाने का उल्लेख है । फिर भी उन्हें ध्यान हेतु एकान्त स्थल सहज सुलभ नहीं थे, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने विहार के कमरों में ही ध्यान करती थीं ।

---

१. "पुब्बेनिवासं जानामि दिब्बचक्खुं विसोधितं
चेतो परिच्च ञाणञ्च सोतधातु विसोधिता
इद्धि पि मे सच्छिकता पत्तो मे आसवक्खयो
छ मे भिञ्ञा सच्छिकता कतं बुद्धस्स सासनं"
—थेरी गाथा, गाथा, ७०-७१.

२. ये केचि वड्ढ सङ्खारा हीनउक्कट्ठमज्झिमा
अणु पि अणुमत्तो पि वनथो मे न विज्जति
—वही, २०७

३. वही, ४८.

४. वही, परत्मथदीपनी टीका, ५७.

५. वही, ५९.

बौद्ध भिक्षुणी के मृतक-संस्कार

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी की मृत्यु के पश्चात् क्या-क्या संस्कार किए जाते थे—इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। बौद्ध भिक्षुणी को शस्त्र खोजकर रखना, मृत्यु की प्रशंसा करना तथा मरने के लिए किसी को प्रेरित करना सर्वथा निषिद्ध था।[1] ऐसी भिक्षुणी पाराजिक दण्ड की भागी होती थी और संघ से सर्वदा के लिए निकाल दी जाती थी। थेरी गाथा में भिक्षुणी सिंहा का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसने आत्महत्या का प्रयत्न किया था। सात वर्ष की साधना के पश्चात् भी जब उसके चित्त को शांति नहीं मिली, तो उसने एक घने वन में फाँसी लगाकर मरने का निश्चय किया। परन्तु जैसे ही वह फाँसी गले में डाल रही थी कि उसका चित्त विमुक्त हो गया। मृत्यु के समय यदि भिक्षुणी अपने दायभाग (परिक्खार) संघ को देना चाहे तो वह सामान भिक्षुणी-संघ का होता था, भिक्षु-संघ उसे नहीं ग्रहण कर सकता था। परन्तु यदि शिक्षमाणां तथा श्रामणेरी मृत्यु के समय अपना दायभाग संघ को देना चाहे तो वह सामान भिक्षु-संघ का होता था, भिक्षुणी-संघ का नहीं।[3]

तुलना

हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियाँ अध्ययन एवम् अध्यापन में गहरी रुचि रखती थीं। जैन भिक्षुणियाँ ग्यारह अंगों की तथा बौद्ध भिक्षुणियाँ त्रिपिटक तथा सूत्रों की पण्डिता हुआ करती थीं। जैन संघ के दोनों सम्प्रदायों में भिक्षुणियों को कुछ ग्रन्थों का पढ़ना निषेध किया गया था, परन्तु इस प्रकार के किसी निषेध का उल्लेख बौद्धभिक्षुणियों के सन्दर्भ में नहीं प्राप्त होता। दोनों धर्मों के अनुसार भिक्षुणी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी, परन्तु अपनी शिष्याओं तथा गृहस्थ भक्तों को उपदेश देने का उन्हें पूरा अधिकार था। इसी प्रकार वे ध्यान करने में भी प्रवीण थीं। यद्यपि ध्यान करती हुई किसी जैन भिक्षुणी का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, परन्तु उनके द्वारा व्रत-उपवास करने, कायोत्सर्ग करने तथा आतापना लेने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। बौद्ध भिक्षुणियाँ निर्जन स्थानों में भी ध्यान करने के लिए चली जाती थीं। ध्यान के द्वारा

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाराजिक, ३.

२. थेरी गाथा, परमत्थदीपनी टीका, ४०.

३. चुल्लवग्ग, पृ० ३८८.

ही कुछ बौद्ध भिक्षुणियों के अलौकिक शक्ति से युक्त होने के वर्णन प्राप्त होते हैं। कुछ जैन भिक्षुणियाँ संलेखना या समाधिमरण द्वारा अपने शरीर का त्याग करती थीं, परन्तु बौद्ध भिक्षुणियों के सम्बन्ध में इस प्रकार शरीर त्याग करने का हमें कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। भिक्षुणी सिंहा द्वारा आत्महत्या का प्रयास करने का एक आपवादिक उदाहरण अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त किसी भी आभिलेखिक अथवा साहित्यिक साक्ष्य से दूसरा उदाहरण नहीं प्राप्त होता, जबकि संलेखना करती हुई जैन भिक्षुणियों के अनेकशः उल्लेख प्राप्त होते हैं।

पंचम अध्याय

भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियम

नारियों के प्रव्रज्या सम्बन्धी कारणों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि नारियाँ स्वेच्छा से अथवा परिस्थितियों से बाध्य होकर जैन या बौद्ध संघ में प्रवेश लेती थीं। जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ में भिक्षुणियों की बढ़ती हुई संख्या ने जहाँ दोनों धर्मों के प्रभाव को विस्तृत किया, वहीं भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के प्रश्न को भी महत्त्वपूर्ण बना दिया। जैन एवं बौद्ध दोनों संघों के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न भिक्षुणियों के शील की सुरक्षा का था। एक स्त्री जब भिक्षुणी बन जाती थी तो उसकी सुरक्षा का पूरा का पूरा उत्तरदायित्व संघ पर आता था। दोनों धर्मों में हमें इस सम्बन्ध में नियमों की एक विस्तृत रूप-रेखा प्राप्त होती है।

जैन भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियम

प्राचीन जैन आगम ग्रन्थों में भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के प्रश्न के बारे में उतनी चिन्ता नहीं व्यक्त की गई है, जितनी की परवर्ती ग्रन्थों में। यह बात बृहत्कल्पभाष्य, निशीथ विशेष चूर्णि, आवश्यक निर्युक्ति, गच्छाचार आदि परवर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री के विश्लेषण के आधार पर कही जा सकती है।

उपाश्रय में भिक्षुणियों को कभी अकेला नहीं छोड़ा जाता था। गच्छाचार[1] के अनुसार गच्छ में रहने वाली साध्वी रात्रि में दो कदम भी बाहर नहीं जा सकती थी। उन्हें अकेले आहार, गोचरी या शौच के लिए भी जाना निषिद्ध था।[2] वस्त्र के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्कता रखी जाती थी। बृहत्कल्पभाष्य तथा ओघनिर्युक्ति में भिक्षुणियों द्वारा धारण किये जाने वाले ग्यारह वस्त्रों का उल्लेख है। यात्रा के समय उन्हें सभी वस्त्रों को धारण करने का निर्देश दिया गया था।[3] रूपवती साध्वियों को खुज्ज-करणी नामक वस्त्र धारण करने की सलाह दी गयी थी, ताकि वे कुरूप

१. गच्छाचार, १०८.
२. बृहत्कल्पसूत्र, ५/१६--१७.
३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४११९.

सी दीखने लगें ।[१] भिक्षुणियाँ अपने प्रयोग के लिए डण्ठल-युक्त तुम्बी तथा डण्डेवाला पाद-पोंछन नहीं रख सकती थीं ।[२] इसी प्रकार भोजन में वे अखण्ड तालप्रलम्ब नहीं ले सकती थीं ।[३] यहाँ ताल प्रलम्ब का तात्पर्य सभी लम्बे आकार वाले फलों से है । बृहत्कल्पभाष्यकार ने इस प्रकार के फलों की एक लम्बी सूची दी है ।[४] यह विश्वास किया गया था कि इन फलों के लम्बे फलक को देखकर भिक्षुणियों में काम-वासना उद्दिप्त हो सकती है । उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि पुरुष-स्पर्श से उद्भूत आनन्द का वे स्वाद न लें । साध्वी को बीमारी से कमजोर हो जाने के कारण या कहीं आने-जाने पर गिर जाने के कारण यदि पिता, पुत्र अथवा अन्य कोई पुरुष उठावे, तो ऐसे पुरुष-स्पर्श को पाकर अथवा मल-मूत्र का त्याग करते समय यदि पशु आदि उसके अंगों का स्पर्श कर लें[६] तो ऐसे स्पर्श को पाकर तथा उससे उत्पन्न काम-वासना के आनन्द से विरत रहने को कहा गया था; अन्यथा उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के दण्ड का भागी बनना पड़ता था । संक्षेप में, भिक्षुणियों को यह कठोर निर्देश दिया गया था कि वे किसी भी परिस्थिति में मैथुन का आनन्द न लें ।

उपाश्रय के सम्बन्ध में भी ऐसी ही सतर्कता रखी जाती थी । पूर्ण सुरक्षित आवास प्राप्त करने के लिये वे हर सम्भव प्रयत्न करती थीं, परन्तु यदि सुरक्षित आवास नहीं मिलता था तो उन्हें विवश होकर अन्य उपाश्रयों में भी रहना पड़ता था । उदाहरणस्वरूप, अनावृत द्वारा वाले उपाश्रय में रहना उनके लिए निषिद्ध था, परन्तु उपयुक्त उपाश्रय न मिलने पर संघ द्वारा निर्धारित कुछ मर्यादाओं का पालन करते हुए वे उसमें रह सकती थीं । इसके लिए विस्तृत नियमों का प्रतिपादन बृहत्कल्पभाष्य में मिलता है ।[७] इसके अनुसार कपाट-रहित द्वार को छिद्र-रहित पर्दे से दोनों ओर कसकर बाँधा जाता था । सिकड़ी अन्दर से ही खुलती थी । उसके

१. "खुज्जकरणी उ कोरइ रूववईणं कुडहहेउं"—ओघनिर्युक्ति, ३१९.

२. बृहत्कल्पसूत्र, ५/३८-४४.

३. "नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहिए"
—वही, १/४.

४. तल नालिएर लउए, कविट्ठ अंबाड अंबए चेव
एअं अग्गपलंबं, नेयव्वं आणुपुव्वीए"—बृहत्कल्पभाष्य, भाग द्वितीय, ८५२.

५. बृहत्कल्पसूत्र, ४।१४.

६. वही, ५।१३-१४.

७. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २३३१-५२.

खोलने के रहस्य को या तो प्रतिहारी जानती थी या वह जो सिकड़ी बाँधती थी—अन्य कोई नहीं। सभी सूत्रों में पारंगत (सम्यगधिगत-सूत्रार्था), उच्चकुल में उत्पन्न (विशुद्धकुलोत्पन्न), भयहीन (अभीरू), गठीले बदन वाली (वायामियसरीर), बलिष्ठ प्रतिहारी उपयुक्त मानी जाती थी। वह हाथ में मजबूत डण्डा लेकर द्वार के पास बैठती थी, जो कोई भी उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न करता था, प्रतिहारी भिक्षुणी उसकी पूरी जाँच करती थी। वह आगन्तुक के सिर, गाल, छाती का भली-प्रकार स्पर्श कर पता लगाती थी कि आने वाला व्यक्ति स्त्री है या पुरुष। फिर वह उसका नाम पूछती थी। इन सारी क्रियाओं के बाद जब वह सन्तुष्ट हो जाती थी, तभी प्रतिहारी आगन्तुक को उपाश्रय के अन्दर प्रवेश की आज्ञा देती थी। इस नियम से ऐसा प्रतीत होता है कि दुराचारी पुरुष स्त्री-वेष धारण कर भिक्षुणियों के उपाश्रय में पहुँच जाते थे, इसके निराकरण हेतु ही यह नियम बनाया गया था। आगन्तुक को उपाश्रय के अन्दर देर तक रुकने तथा व्यर्थ का वार्तालाप करने की आज्ञा नहीं थी। फिर भी यदि इन सारी सतर्कताओं के बावजूद कोई दुराचारी व्यक्ति उसमें प्रवेश पा जाता था, तो सभी भिक्षुणियाँ मिलकर भयंकर कोलाहल करती थीं तथा डण्डा लेकर पहले वृद्धा भिक्षुणी (स्थविरा) फिर तरुणी भिक्षुणी, फिर वृद्धा—इस क्रम से अपने शील की रक्षा का प्रयत्न करती थीं। अनावृत द्वार वाले उपाश्रय में भिक्षुणियों को जोर-जोर से पढ़ने के लिए कहा गया था तथा दुराचारी व्यक्तियों के प्रवेश के सभी प्रयत्नों को विफल करने का निर्देश दिया गया था।[1] इसके अतिरिक्त भिक्षु को ऐसे उपाश्रयों या शून्यागारों में बाहर से साध्वी की रक्षा करने को कहा गया था (बहिरक्खियाउ वसहेंहि)।[2] तरुणी साध्वी की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था। उपाश्रय में पहले स्थविरा (वृद्धा) भिक्षुणी, इसके पश्चात् तरुणी भिक्षुणी, उसके पश्चात् फिर वृद्धा भिक्षुणी और उसके पश्चात् पुनः तरुणी भिक्षुणी—इस क्रम से शयन करने का विधान था।[3]

शील के नष्ट होने की सम्भावना तभी रहती थी जब साध्वी के साथ कोई बलात्कारपूर्वक सम्भोग कर ले। निशीथचूर्णि में सम्भोग के कारणों में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग आदि का वर्णन किया गया है।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २३२३.

२. वही, भाग तृतीय, २३२४.

३. गच्छाचार, १२३.

इनमें राग का अत्यधिक महत्त्व है। यह सही भी है, क्योंकि राग के कारण ही एक दूसरे के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है जिससे आकर्षण बढ़ता है और उचित अवसर मिलने पर वह सम्भोग में परिणत हो जाता है। जैन संघ में ब्रह्मचर्य के खण्डित होने पर साधु-साध्वी के लिए कठोरतम दण्ड का विधान था। यद्यपि हिंसा जैसे महाव्रतों की विराधना में बिना प्रायश्चित्त के भी काम चल जाता था, परन्तु ब्रह्मचर्य महाव्रत का भंग, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में हुआ हो, बिना प्रायश्चित्त किये उससे छुटकारा नहीं मिल सकता था।[1] प्रायश्चित्त अनिवार्य था—भले ही उसकी गुरुता अत्यन्त कम हो। इसका सबसे प्रमुख कारण यह था कि अब्रह्मचर्य का सेवन बिना राग-द्वेष के हो ही नहीं सकता।[2] दण्ड का उद्देश्य हमेशा शिक्षात्मक होता था। अभियुक्त को उपयुक्त दण्ड देने के अतिरिक्त अन्य लोगों की शिक्षा देने के लिये इसका प्रयोग किया जाता था।

परन्तु फिर भी यदा-कदा ऐसी घटनाएँ घटती रहती थीं, जिनके उल्लेख हमें तत्कालीन ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं। सामान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त राजा एवं सामन्तवर्ग के सदस्य इस कुकृत्य में हिस्सा लेते थे। वे सुन्दरी भिक्षुणियों को पकड़ कर अपने अन्तःपुर में रखने के लिए इच्छुक रहते थे। इस सम्बन्ध में कालकाचार्य एवं गर्दभिल्ल की कथा सुविख्यात है।[3] कालकाचार्य की भिक्षुणी बहन सरस्वती को उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल ने पकड़वा लिया था। बाद में विदेशी शकों की सहायता से युद्ध एवं मन्त्र-प्रयोग के द्वारा वे अपनी बहन को छुड़ाने में सफल हुये। स्पष्ट है कि भिक्षुणी के शील को सुरक्षार्थ अलौकिक शक्तियों एवं मन्त्रों का प्रयोग किया जा सकता था, यद्यपि सामान्य अवस्था में मन्त्रों आदि का प्रयोग निषिद्ध था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी सावधानियों के बावजूद भी कोई न कोई भिक्षुणी समाज के दुराचारी व्यक्तियों के चंगुल में फँस जाती थी और उसके लिए अपने शील को बचाये रखना कठिन हो जाता था, यद्यपि उन्हें हर प्रकार से अपने शील की रक्षा करने का निर्देश दिया गया था। ऐसी

---

१. निशीथ—एक अध्ययन, पृ० ६८.

२. "मैथुनभावो रागद्वेषाभ्यां विना न भवति"

—बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, ४९४४.

३. निशीथ विशेष चूर्णि, २८६०.

परिस्थिति में उन्हें सलाह दी गयी थी कि वे चर्मखण्ड, शाक के पत्ते, दर्भ तथा अपने हाथ द्वारा अपने गुप्तांगों की रक्षा करें।[1] इतनी सावधानी रखने पर भी दुराचारियों द्वारा भिक्षुणियों के साथ बलात्कार की घटनाएँ घट हो जाती थीं। इस अवस्था में जब भिक्षुणी का स्वयं का अपना कोई दोष नहीं हो, जैन संघ अत्यन्त उदार था। सच्ची मानवता के गुणों से सम्पन्न एवं अपनी मर्यादा की रक्षा करता हुआ जैन संघ उसकी सभी अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। ऐसी भिक्षुणी न तो घृणा की पात्र समझी जाती थी और न उसे संघ से बाहर निकाला जाता था। उसे यह निर्देश दिया गया था कि ऐसी घटना घटने के बाद वह अन्य लोगों के जानने के पहले अपने आचार्य या प्रवर्त्तिनी से कहे। वे या तो स्वयं उसकी देखभाल करते थे या गर्भ ठहरने की स्थिति में उसे किसी श्रद्धावान शय्यातर के घर ठहरा देते थे। ऐसी भिक्षुणी को निराश्रय छोड़ देने पर आचार्य को भी दण्ड का भागी बनना पड़ता था। उसे भिक्षा के लिए भेजा नहीं जाता था, अपितु दूसरे साधु एवं साध्वी उसके लिए भोजन एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ लाते थे। शिशु के दूध पीने तक वह गृहस्थ के ही घर रहती थी जो उसका माता-पिता के समान पालन-पोषण करता था। बलात्कार किये जाने पर उसकी आलोचना करने का किसी को अधिकार नहीं था। इस दोष के लिए जो उस पर उँगली उठाता था या उसे चिढ़ाता था, वह दण्ड का पात्र माना जाता था। इसके मूल में यह भावना निहित थी कि ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में, जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं है, उसकी आलोचना करने पर वह या तो निर्लज्ज हो जायेगी या लज्जा के कारण संघ छोड़ देगी। दोनों ही स्थितियाँ उसके एवं संघ के हित में नहीं हैं। क्योंकि इससे उसकी एवं संघ की बदनामी होगी। ऐसे प्रसंगों पर जैन संघ अपनी गरिमा की रक्षा करने में पूर्ण-तत्पर रहता था। उपयुक्त आश्रय-स्थल न मिलने पर ऐसी भिक्षुणी को भिक्षुणी के वेश में नहीं रखा जाता था, अपितु गृहस्थ का वेश पहनाकर (गृहिलिङ्ग करोति) गच्छ के साथ रखा जाता था। उसकी सेवा में तत्पर वृद्ध साधु "श्राद्धवेश" धारण करता था अथवा युवक भिक्षु 'सिद्धपुत्रवेश" धारण करता था। इस प्रकार का वेश धारण करने का कारण यह था कि

---

१. "खंडे पत्ते तह दब्भचीवरे तह य हत्थपिहणं तु
अद्धाणविवित्ताणं आगाढं सेसऽणागाढं"

—बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २९८६.

लोगों को यह जानने का अवसर नहीं देना चाहिए कि यह इस भिक्षुणी-संघ की सदस्या है।[1] उसके साथ जो सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाता था, उसके मूल में यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता निहित थी कि बुरे व्यक्ति भी अच्छे बन सकते हैं और ऐसा कोई कारण नहीं है कि एक बार सत्पथ से विचलित हुई भिक्षुणी को यदि सम्यक् मार्गदर्शन मिले तो वह सुधर नहीं सकती है। बृहत्कल्पभाष्यकार का कथन है कि क्या वर्षाकाल में अत्यधिक जल के कारण अपने किनारों को तोड़ती हुई नदी बाद में अपने रास्ते पर नहीं आ जाती है और क्या अंगार का टुकड़ा बाद में शान्त नहीं हो जाता है ?[2]

हम देखते हैं कि ब्रह्मचर्य की साधना कितनी कठिन थी। इसकी गुरुता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि पूरी सावधानी के बावजूद जैन संघ दुराचरण सम्बन्धी घटनाओं को पूरी तरह रोक नों सका। ब्रह्मचर्य-मार्ग में आने वाली कठिनाई का ध्यान प्राचीन आचाय को भी था। उसके निवारण के लिए उन्होंने प्रारम्भ से प्रयत्न भी किया था। संघ में प्रवेश के समय अर्थात् दीक्षा-काल में ही इसकी सूक्ष्म छान-बीन की जाती थी। प्रव्रज्या का द्वार सबके लिए खुला होने पर भी कुछ अनुपयुक्त व्यक्तियों को उसमें प्रवेश की आज्ञा नहीं थी।[3] ऋणी, चोर, डाकू, जेल से भागे हुए व्यक्ति, नपुंसक एवं क्लीव को दीक्षा लेने की अनुमति नहीं थी। लेकिन जैसे-जैसे संघ का विस्तार बढता गया, इन नियमों की अवहेलना होती गयी और तमाम सतर्कताओं एवं गहरी छान-बीन के उपरान्त भी अयोग्य व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) संघ में प्रवेश पा ही जाते थे, जो बाद में संघ के लिए सिरदर्द साबित होते थे। ऐसे व्यक्तियों को जिन-शासन की गरिमा से कुछ लेना-देना नहीं था। उन्हें अपने कुकृत्यों के लिए एक आश्रयस्थल को अपेक्षा होती थी, ज़ो उन्हें संघ में प्रवेश पाकर सुलभ हो जाती थी। इसकी आड़ में वे अवसर पाते ही बुरे कर्मों को करने से बाज नहीं आते थे।

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४१२९-४६.

२. "उम्मग्गेण वि गंतुं, ण होति किं सोतवाहिणी सलिला
कालेण फुंफुगा वि य, विलीयते हसहसेऊणं"

—वही, भाग चतुर्थ, ४१४७.

३. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय.

दूसरे, संघ में युवती एवं सुन्दर स्त्रियाँ भी भिक्षुणियों के रूप में प्रवेश लेती थीं। संघ के अन्दर छिपे हुए दुष्ट व्यक्ति एवं संघ के बाहर स्वच्छन्द घूमते हुए समाज के मनचले युवक उनको परेशान करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते थे। ऐसे व्यक्तियों की निष्ठा सन्देहजनक थी। वे एकान्त स्थान पाते ही तरह-तरह की बातें करने लगते थे, जिनका संयम एवं आचार से दूर का भी कोई रिस्ता नहीं होता था।[1] उनकी बातों का विषय गृहस्थ-जीवन से सम्बन्धित होता था। कुछ स्त्रियाँ अपने पति को दूसरी स्त्री में अनुरक्त देखकर, कोई पति का प्रेम न पाने से, कोई पति की मृत्यु के पश्चात् संघ में दीक्षा लेती थीं, उनका वैराग्य विवेकजन्य एवं आन्तरिक नहीं होता था। ये क्षीण मनवाली साध्वियाँ ही संघ के पवित्र मार्ग में कंटकवत् थीं। तनिक अवसर पाते ही इनकी काम-वासना जागृत हो जाती थी। अतः जैन आचार्यों का सबसे प्रमुख कर्तव्य यह था कि वे उन्हें पुरुषों के सम्पर्क में आने का अवसर ही न दें।

इसीलिए संघ में नपुंसकों की दीक्षा का सर्वथा निषेध किया गया था।[2] नपुंसकों के प्रकार तथा संघ में उनके द्वारा किये गये कुकृत्यों का विस्तृत वर्णन बृहत्कल्पभाष्य[3] एवं निशीथ चूर्णि[4] में मिलता है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैनाचार्य नपुंसकों के लक्षणों का पूरा ज्ञान रखते थे। आचार्य संघ-प्रवेश के समय दीक्षार्थी से अनेक प्रकार केप्रश्न करते थे, उसकी कितनी सूक्ष्म छान-बीन की जाती थी, जिसे देखकर आज भी आश्चर्य होता है। नपुंसकों से इतना डर संघ को इसलिए था कि वे ऐसी अग्नि के समान माने गये थे, जो प्रज्वलित भी जल्दी होती है और रहती भी देर तक है।[5] (नपुंसकवेदो महानगरदाह-समाना)। उनमें उभय-वासना की प्रवृत्ति होती है। वे स्त्री-पुरुष दोनों की काम-वासना का आनन्द लेते हैं। इस कारण वे स्त्री-पुरुष दोनों की काम-वासनाको प्रदीप्त करने वाले होते हैं। इनके कारण समलैंगिकता को भी प्रोत्साहन मिलता है, जिससे भिक्षु-भिक्षुणियों का चारित्रिक पतन होता है। अतः यह भरसक प्रयत्न किया गया था कि ऐसे व्यक्ति संघ में किसी प्रकार प्रवेश न पा सकें। यह अत्यन्त कठिन समस्या थी, जिसका निरा-

---

१. निशीथ विशेष चूर्णि, १६८३-९५; १७८८-९६.
२. बृहत्कल्पसूत्र, ४/४.
३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, ५१३९-६४.
४. निशीथ विशेष चूर्णि, ३५६१-३६२४
५. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, ५१४८-टीका.

करण अत्यन्त आवश्यक था। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक छान-बीन के उपरान्त भी ब्रह्मचर्य-स्खलन की घटनाएँ घटती रहती थीं। यह परिकल्पना की गयी कि यदि मनुष्य हमेशा कार्यों में लगा रहे, तो बहुत कुछ अंशों में काम पर विजय पायी जा सकती है। जैनाचार्य काम-विजय कठिन अवश्य मानते थे, पर असम्भव नहीं। निशीथ चूर्णि[1] में गाँव की कामातुर एक सुन्दर युवती का दृष्टान्त देकर उपर्युक्त मत को समझाने की सफल चेष्टा की गयी है। वह सुन्दर लड़की, जो पहले अपने रूप-रंग एवं साज-शृंगार में व्यस्त रहती थी—कार्य की अधिकता के कारण काम-भावना को ही भूल जाती है, क्योंकि घर के सामान के रख-रखाव की सारी जिम्मेदारी उसे सौंप दी गयी थी। यह कथा इसे ही सिद्ध करती है कि खाली दिमाग शैतान का घर होता है और कार्य में लगे रहने पर हम कामरूपी शैतान को बहुत कुछ अंशों में दूर कर सकते हैं। प्रतीकात्मक कथा के माध्यम से संघ के सदस्यों को यह सुझाव दिया गया था कि वे हमेशा ध्यान एवं अध्ययन में लीन रहें तथा मस्तिष्क को खाली न रखें।

यही नहीं, भिक्षुणियों की ब्रह्मचर्य-रक्षा का उत्तरदायित्व भिक्षु-संघ पर भी था। उनकी शील की रक्षा के निमित्त आचार के बाह्य नियमों का कितना भी उल्लंघन हो, सब उचित था। संघ का यह स्पष्ट आदेश था कि शील की रक्षा के लिए भिक्षु हिंसा का भी सहारा ले सकता है और वास्तव में कई बार भिक्षु को भिक्षुणियों की शील-रक्षार्थ हिंसा का आश्रय लेना पड़ा था। निशीथ चूर्णि[2] के अनुसार यदि कोई व्यक्ति साध्वी पर बलात्कार करना चाहता हो अथवा आचार्य या गच्छ के वध के लिए आया हो, तो उसकी हिंसा की जा सकती है। इस प्रकार की हिंसा करते हुए भी वह पाप का भागी नहीं माना गया था, अपितु विशुद्ध माना गया था। ठीक इसी प्रकार के अपवाद हमें मंत्रों एवं अलौकिक शक्तियों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी देखने को मिलते हैं। कालकाचार्य ने अपनी भिक्षुणी-बहन को छुड़ाने के लिए गर्दभी विद्या एवं मन्त्र का प्रयोग किया था एवं विदेशी शकों की सहायता ली थी। इसी प्रकार शशक और भसक नामक दो जैन भिक्षुओं का उल्लेख मिलता है, जो अपनी रूपवती बहन भिक्षुणी सुकुमारिका[3] की हर प्रकार से रक्षा करते थे। एक यदि भिक्षा को जाता था तो दूसरा सुकुमारिका की रक्षा करता था।

---

१. निशीथ विशेष चूर्णि, ५७४.
२. वही, २८९.
३. बृहत्कल्पभाष्य, भाग पंचम, ५२५४-५९.

इस तरह हम देखते हैं कि सुप्रतिष्ठित महाव्रतों एवं नियमों को भंग करके भी जैन संघ भिक्षुणियों की रक्षा का प्रयत्न करता था। ऐसा करना मूलभूत नियमों का अतिक्रमण नहीं माना गया था। इसके मूल में यह भावना निहित थी कि धर्म अथवा संघ के अभाव में वैयक्तिक साधना का क्या महत्त्व हो सकता है ? संघ का अस्तित्व सर्वोपरि है। अतः संघ की रक्षा एवं उसकी मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए महाव्रतों की विराधना को भी कुछ अंशों तक उचित माना गया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैनधर्म के आचार्यों ने शील-सुरक्षा के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया था। यही कारण था कि साध्वियों के शील-सुरक्षार्थ उन्होंने जिन नियमों का सृजन किया था, उनमें उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं।

दिगम्बर भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियम

दिगम्बर सम्प्रदाय में भी भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के सम्बन्ध में अत्यन्त सतर्कता बरती गई थी। भिक्षुणियों को कहीं भी अकेले आने-जाने की अनुमति नहीं थी। उन्हें ३, ५ या ७ की संख्या में ही एक साथ जाने का विधान था। इसके अतिरिक्त उनकी सुरक्षा के लिए साथ में एक स्थविरा भिक्षुणी भी रहती थी[1]। उन्हें उपयुक्त उपाश्रय में ही ठहरने का निर्देश दिया गया था। संदिग्ध चरित्र वाले स्वामी के उपाश्रय में रहना निषिद्ध था। उपाश्रय में भी उन्हें २, ३ या इससे अधिक की संख्या में ठहरने की सलाह दी गई थी।[2] उन्हें यह निर्देश दिया गया था कि उपाश्रय में रहते हुये वे परस्पर अपनी रक्षा में तल्लीन रहें।[3] उपयुक्त उपाश्रय न मिलने पर उन्हें मर्यादापूर्वक रहने का निर्देश दिया गया था।[4]

---

१. मूलाचार, ४/१९४.

२. "दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति",—वही, ४/१९१.

३. वही, ४/१८८.

४. अगृहस्थमिश्रनिलयेऽसन्निपाते विशुद्धसंचारे द्वे तिस्रो बह्वयो वार्या अन्योन्यानुकूलाः परस्पराभिरक्षणाभियुक्ता गतरोषवैरमायाः सलज्जमर्यादक्रिया अध्ययनपरिवर्तनश्रवणकथनतपोविनयसंयमेषु अनुप्रेक्षासु च तथास्थिता उपयोगयोगयुक्ताश्चाविकारवस्त्रवेषा जल्लमलविलिप्तास्त्यक्तदेहा धर्मकुलकीर्तिदीक्षाप्रतिरूपविशुद्धचर्याः सन्त्यस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः।

—वही, ४/१९१—टीका.

नैतिक नियमों का पालन कठोरता से किया जाता था। उन्हें सांसारिक वस्तुओं के मोह से सर्वथा विरत रहने की सलाह दी गई थी। स्वयं स्नान करना तथा गृहस्थ के बच्चों को नहलाना तथा खिलाना पूर्णतः वर्जित था। उन्हें गीत आदि गाने तथा सांसारिक वस्तुओं के प्रति दुःख प्रकट करने से निषेध किया गया था। इसी प्रकार सुन्दर दीखने के लिए अपने शरीर को सजाना तथा सुशोभित करना भी भिक्षुणियों के लिए निषिद्ध था।[1] उन्हें पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों का सम्यक्‌रूपेण पालन करने का निर्देश दिया गया था तथा उन सभी परिस्थितियों से बचने को कहा गया था जिससे ब्रह्मचर्य के स्खलित होने का भय हो।[2] उन्हें किसी गृहस्थ के यहाँ निष्प्रयोजन जाने का निषेध किया गया था। यदि गृहस्थ से कोई कार्य हो, तो गणिनी से पूछकर अन्य भिक्षुणियों के साथ जाने का विधान था।[3] भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के अति-विकसित होने से उनमें राग आदि की भावना उत्पन्न हो सकती थी—अतः उनके पारस्परिक सम्बन्धों को यथासम्भव मर्यादित करने का प्रयत्न किया गया।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों में भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ अत्यन्त सतर्कता बरती जाती थी। इस सम्बन्ध में परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए अनेक नियमों का निर्माण किया गया था। दोनों ही सम्प्रदायों में भिक्षुणियों को अकेले रहने या अकेले यात्रा करने का निषेध था। परन्तु उनकी सुरक्षा के सम्बन्ध में जितनी चिन्ता श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दिखाई पड़ती है, उतनी दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं। उदाहरणस्वरूप—श्वेताम्बर भिक्षुणियों के लिए ११ वस्त्रों का विधान इसी सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया गया था कि दुर्जन व्यक्ति एक बार शील-अपहरण का प्रयास करने पर भी सफल न हो सकें, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणियों के लिए केवल एक ही वस्त्र का विधान था।

बौद्ध भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी नियम

स्त्रियों के प्रवेश से बौद्ध संघ के समक्ष एक कठिन समस्या खड़ी हो गई थी। बौद्धाचार्य इस समस्या से सुपरिचित थे तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने भी अनेक नियमों का प्रतिपादन किया था।

---

१. मूलाचार, ४/१९३.

२. वही, ४/१७७-१९४.

३. वही, ४/१९२.

बौद्ध संघ में भिक्षु-संघ की स्थापना के कई वर्षों बाद भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई थी। इस देरी में भिक्षुणियों की शील सम्बन्धी चिन्ता एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय बुद्ध का यह कथन—"जो सद्धर्म १००० वर्ष ठहरता, अब ५०० वर्ष ही ठहरेगा"[1] —इस तथ्य का प्रतीक था कि उनको स्त्रियों के प्रवेश के पश्चात् बौद्ध संघ के छिन्न-भिन्न होने का भय था। इसके निराकरण हेतु ही बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए अष्टगुरुधर्मों की स्थापना की थी। यह यावज्जीवन पालनीय धर्म था, जिसका पालन उसी प्रकार करना था, जैसे सागर अपने किनारों की मर्यादा का करता है।[2] स्पष्ट है, बुद्ध भिक्षुणियों को एक मर्यादा के अन्दर रखना चाहते थे। अष्टगुरुधर्म सम्बन्धी नियमों की सार्थकता को बुद्ध ने चार लौकिक उदाहरण देकर सिद्ध किया।[3] उनके कथन का सार यह था कि जिस प्रकार धान के खेत में सेतट्टिका तथा ईख के खेत में मंजिट्ठिका रोग लग जाने से तैयार फसल नष्ट हो जाती है; उसी प्रकार नारियों के प्रवेश के बाद बौद्ध संघ नष्ट हो जायेगा। यह रोग कामसम्बन्धी ही हो सकता था, क्योंकि भिन्न-लिंगी भिक्षु और भिक्षुणियों के सम्पर्क से दोनों के सद्धर्म से च्युत होने का खतरा था। अतः जिस प्रकार पानी के प्रवाह को रोकने के लिए मनुष्य मेंड़ बनाता है, उसी प्रकार नारियों के प्रवेश के बाद उससे उत्पन्न बुराइयों को रोकने के लिए बुद्ध ने अष्टगुरुधर्मों का प्रतिपादन किया।

काम सम्बन्धी अपराध करने पर बौद्ध भिक्षुणी के लिए कठोरतम दण्ड की व्यवस्था की गयी थी। बौद्ध संघ में दण्ड-व्यवस्था के कठोरतम अपराध पाराजिक एवं संघादिसेस थे। पाराजिक की अपराधिनी भिक्षुणी संघ से सर्वदा के लिए निकाल दी जाती थी। वह अन्य भिक्षुणियों के साथ रहने लायक नहीं रहती थी (पाराजिका होति असंवासा)। संघादिसेस की अपराधिनी भिक्षुणी को १५ दिन का मानत्त करना पड़ता था।[4] मानत्त देने का अर्थ था—संघ का विश्वास अर्जित करना।

भिक्षु के चार पाराजिक नियम थे, परन्तु भिक्षुणी के लिए आठ पाराजिक नियम थे। भिक्षु के लिए काम सम्बन्धी एक पाराजिक अपराध

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७६-७७.
२. "वेलामिव समुद्रेन"—भिक्षुणी विनय, §१४.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३७७.
४. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का षष्ठ अध्याय.

था—मैथुन सेवन करना, परन्तु भिक्षुणी के लिए काम सम्बन्धी तीन पाराजिक अपराध थे[1]—मैथुन सेवन करना (मेथुनं धम्मं पटिसेवेय्य); कामासक्त होकर (अवस्सुतस्स) पुरुष के जाँघ के ऊपरी भाग (उब्भजानु-मण्डल) को सहलाना और कामासक्त होकर पुरुष का हाथ पकड़ना, उसके संकेत के अनुसार अनुगमन करना। इन अपराधों को करने वाली भिक्षुणी को पाराजिक दण्ड दिया जाता था।

इसी प्रकार यदि भिक्षुणी कामासक्त होकर कामुक पुरुष के (अवस्सुतस्स पुरिसपुग्गलस्स) हाथ से खाद्य-पदार्थ ग्रहण करती थी;[2] या दूसरी भिक्षुणी को ऐसा करने के लिए उत्साहित करती थी,[3] तो वह संघादिसेस की प्रथम आपत्ति की दोषी मानी जाती थी। यदि भिक्षुणी स्वच्छन्द—विहारी होकर (उस्सयवादिका) किसी पुरुष के साथ विचरण करती थी;[4] या अकेले ही भ्रमण करतो थी या नदी पार करती थी या अकेले ही रात में प्रवास करती थी[5] तो वह भो संघादिसेस की प्रथम आपत्ति की दोषी मानी जाती थी।

काम सम्बन्धी कुछ पाचित्तिय नियम भी थे, जिनका अतिक्रमण करने पर उन्हें प्रायश्चित्त करने का विधान था। भिक्षुणी यदि गुप्तांग (संबाधे) के रोम को बनाती थी,[6] तलघातक करती थी[7] (कामानन्द के लिए योनि पर थपकी देना), जतुमट्ठक (मैथुन-साधन) प्रयोग करती थी,[8] या अपनी योनि को उचित नाप (दो अंगुल के दो पोर—अंगुल पब्बपरमं) से अधिक गहराई तक जल से धोती थी,[9] तो उसे पाचित्तिय-दण्ड का प्रायश्चित्त करना पड़ता था। भिक्षुणी यदि अकेले पुरुष के साथ अँधेरे में, सड़क पर, चौराहे पर वार्तालाप करती थी, तो उसे पाचित्तिय का दण्ड दिया जाता

---

१. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का षष्ठ अध्याय.

२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी संघादिसेस, ५.

३. वही, ६.

४. वही, १.

५. वही, ३.

६. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय २.

७. "सम्फस्सं सादियन्ती अन्तमसो उप्पलपत्तेन पि मुत्तकरणे पहारं देति"
—वही, ३; पाचित्तिय पालि, पृ० ३५५.

८. पाचित्तिय पालि, पृ० ३५६.

९. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ५.

था।[1] इसी प्रकार बिना संघ या गण के पूछे यदि भिक्षुणी अपने गुह्य-स्थान के फोड़े को चिरवाती या धुलवाती थी, तो उसे पाचित्तिय का दण्ड दिया जाता था।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध दण्ड-व्यवस्था में काम सम्बन्धी ही अनेक गुरुतर अपराध माने गये थे, जिनके करने पर भिक्षुणी के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। हम देखते हैं कि भिक्षुणियों के काम सम्बन्धी अपराधों को पाराजिक, संघादिसेस तथा पाचित्तिय इन तीन प्रमुख वर्गों में रखा गया था तथा अपराध की गुरुता के अनुसार ही उन्हें दण्ड प्रदान किया जाता था। ऐसे अपराध, जिनके करने से भिक्षुणी सद्धर्म से तुरन्त च्युत हो सकती थी या उसका शील-भंग हो सकता था—पाराजिक तथा संघादिसेस की कोटि में रखे गये थे। ऐसे अपराध, जिनके करने से केवल काम-सुख प्राप्त होता था, कामोत्तेजना उत्पन्न होती थी, परन्तु जिनमें मैथुन-सेवन नहीं था, नरम दण्ड की कोटि में रखे गये थे। इस प्रकार बौद्धाचार्यों ने भिक्षुणी को काम सम्बन्धी अपराधों से विरत रहने की सलाह दी थी तथा साथ ही कठोर दण्ड का भय भी दिखाया था।

उपर्युक्त पाराजिक, संघादिसेस तथा पाचित्तिय के अपराध पातिमोक्ख नियम के अन्तर्गत् आते थे। इन पातिमोक्ख नियमों की उपोसथागार में प्रत्येक पन्द्रहवें दिन वाचना होती थी। वाचना के समय ही भिक्षुणी को अपने अपराधों को बताना पड़ता था तथा अपराध सिद्ध हो जाने पर सघ द्वारा दिये गये दण्ड को स्वीकार करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वर्षावसान के पश्चात् प्रत्येक भिक्षुणी को प्रवारणा करनी पड़ती थी, जिसमें भिक्षु तथा भिक्षुणी दोनों संघों के समक्ष उसे दृष्ट, श्रुत तथा परिशंकित दोषों को आलोचना करनी पड़ती थी।[3]

इन पातिमोक्ख नियमों के अतिरिक्त भी भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया था। भिक्षुणी को अकेले यात्रा करने का निषेध था ही, उन्हें अरण्यवास करने से भी मना किया गया था, क्योंकि एकान्त पाकर दुराचारी पुरुष उन पर बलात्कार कर सकते थे

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ११-१४.
२. वही, ६०.
३. वही, ५७.

(धुत्ता दुसेन्ति)[1]। उपयुक्त उपाश्रय (विहार) न प्राप्त होने पर उन्हें क्या निर्देश दिये गये थे, इसका बौद्धसंघ में स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। सम्भवतः ऐसी परिस्थिति में उन्हें स्वयं ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने की शिक्षा दी गई होगी, इसीलिए उन्हें अकेले रहने अथवा अकेले यात्रा करने का निषेध किया गया था।

भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ कभी-कभी व्यवस्थित नियमों में भी परिवर्तन करना पड़ता था। शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए भिक्षु तथा भिक्षुणी दोनों संघों के समक्ष स्वयं उपस्थित होकर याचना करनी पड़ती थी। परन्तु भिक्षु-संघ यदि दूर हो तथा उपसम्पदा प्राप्त करने के लिए शिक्षमाणा के स्वयं वहाँ जाने पर शील-भंग का भय हो तो किसी योग्य भिक्षुणी को दूती बनाकर भी भिक्षु-संघ से उसके लिए याचना की जा सकती थी। काशी की गणिका अड्ढकाशी को भिक्षुणी बनने के लिए दूती भेजकर ही उपसम्पदा प्राप्त करनी पड़ी थी[2]।

यात्रा, भिक्षा-गवेषणा आदि के समय भिक्षुणी को अपने वस्त्रों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता था। बिना कंचुक (असंकच्छिका) गाँव में प्रवेश करने पर उन्हें पाचित्तिय का दण्ड लगता था।[3] क्योंकि बिना कंचुक के भिक्षुणी के खुले अंगों को देखकर दुराचारी जनों में दुर्भावना उत्पन्न हो सकती थी।[4] गृहस्थ उपासक के यहाँ जाते समय उन्हें अपने शरीर को पूरी तरह ढँककर जाने का निर्देश दिया गया था। सेखिय नियमों में उन्हें यह शिक्षा दी गयी थी कि गृहस्थों के यहाँ संयमपूर्वक, तथा शरीर के किसी अंग को अनावश्यक रूप से हिलाते हुए न जाँय।[5]

ऋतुमती भिक्षुणियों (उतुनियो भिक्खुनियो) के लिए कुछ अन्य वस्त्रों का विधान किया गया था, क्योंकि असावधानी के कारण भी रजस्वला काल में यदि वस्त्र पर रक्त के धब्बे दिखाई पड़ जाय, तो बदनामी का डर था। अतः रजस्वला काल में भिक्षुणी को आवसत्थचीवर तथा अणि-चोलक नामक वस्त्रों को धारण करने का निदश दिया गया था। ये वस्त्र

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९९.
२. वही, पृ० ३९७-९९.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ९६.
४. पाचित्तिय पालि, पृ० ४८०.
५. पातिमोक्ख, भिक्खुनी सेखिय, १-२६.

ढीले होकर कहीं गिर न पड़ें, अतः इन्हें सूत से कसकर बाँधने को सलाह दी गयी थी।[1]

भिक्षु-भिक्षुणियों का परस्पर अशिष्ट हास-परिहास करना सर्वथा निषिद्ध था। कुछ षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा भिक्षुणियों के ऊपर कीचड़ का पानी (कद्दमोदक) डालने तथा उन्हें अपने उरु (जांघ) तथा जननेन्द्रिय (अङ्गजात) दिखाने का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु उसे निन्दित आचरण कहा गया था। भिक्षुणियों को यह निर्देश दिया गया था कि वे ऐसे भिक्षु की वन्दना न करें। ऐसा भिक्षु "अवन्दिय" कहलाता था। इसी प्रकार भिक्षुणी यदि भिक्षु के ऊपर कीचड़-पानी डालती थी या अपने शरीर का कोई अंग दिखाती थी तो ऐसी भिक्षुणी को उपदेश से वंचित कर देने का विधान था। इस प्रकार स्पष्ट है, अशिष्ट आचरण किसी भी दशा में निन्दनीय था।

भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के अति-विकसित होने पर अनैतिक आचरण सम्भव थे—अतः इसके निराकरण का प्रयत्न किया गया था। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि कुछ भिक्षुणियाँ भिक्षु मोलियफग्गुण की निन्दा सुनकर कुपित हो जाती थीं तथा भिक्षु मोलिय भी भिक्षुणियों की निन्दा सुनकर कुपित हो जाते थे। एक अवसर पर बुद्ध ने भिक्षु मोलियफग्गुण को फटकारा तथा कहा कि इससे राग-द्वेष की वृद्धि होती है।[2]

भिक्षुणियों के द्वारा पुरुष-लिंग (पुरिसव्यंजन) को देखना निषिद्ध था। श्रावस्ती में सड़क पर पड़े हुए एक नग्न मृतक के पुरुषलिंग को देखने पर बुद्ध ने भिक्षुणियों को फटकारा था तथा ऐसा करना निषिद्ध ठहराया था।[3]

भिक्षुणियों को सुन्दर लगने के लिए माला धारण करने तथा सुगंधित उबटन, तेल आदि लगाने की अनुमति नहीं थी। इसी प्रकार वह गृहस्थ स्त्रियों के द्वारा पहने जाने वाले आभूषण को भी धारण नहीं कर सकती थी।[4] सुन्दरता के लिए उन्हे लम्बा कमरबन्द धारण करना अथवा कमरबन्द में पूँछ लटकाना भी निषिद्ध था।[5] इसी प्रकार रंग-विरंगे वस्त्र

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९०–९१.
२. मज्झिम निकाय, १।२१.
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३८९.
४. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ८६-८७.
५. चुल्लवग्ग, पृ० ३८६.

धारण करना, कटी किनारी वाले, फूलदार किनारी वाले, सर्प के फन के आकार की किनारी वाले वस्त्र को धारण करना भिक्षुणी के लिए निषिद्ध था।[1]

इन नियमों का निर्माण सम्भवतः इसलिए किया गया था कि भिक्षुणियों के मन में वस्त्र के प्रति अनावश्यक आकर्षण न उत्पन्न हो तथा सुन्दरता के कारण दुराचारी जन उनका शील-भंग न कर सकें।

प्रारम्भ से ही इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि कोई अयोग्य स्त्री या पुरुष संघ में प्रवेश न कर सके। कामाचार से सम्बन्धित सबसे अधिक भय नपुंसकों से था, अतः नपुंसकों की दीक्षा बौद्ध संघ में भी सर्वथा निषिद्ध थी। बौद्ध संघ में शिक्षमाणा से उपसम्पदा के समय प्रश्नों के पूँछने की परम्परा थी।[2] इनमें अधिकतर प्रश्न उसके शरीर सम्बन्धी होते थे, यथा—क्या वह स्त्री है? वह अनिमित्ता (स्त्री-चिह्न-रहित) तथा निमित्तमत्ता (स्त्री-चिह्न निमित्तमात्र) तो नहीं है? वह इत्थि-पण्डक (स्त्री-नपुंसक) अथवा वेपुरसिका (पुरुषोचित व्यवहार वाली) तो नहीं है? वह उभतोव्यञ्जना (स्त्री-पुरुष के दोनों लक्षणों से युक्त) तो नहीं है? इत्यादि।

इन प्रश्नों की प्रकृति से यह प्रतीत होता है कि श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा के रूप में उसके चरित्र तथा व्यवहार को पूरी जाँच कर ली जाती थी। व्यवहार ठीक न होने पर उसे निकाल देने का विधान था। इन प्रश्नों (अन्तरायिक धर्म) को उपसम्पदा के समय सम्भवतः इसलिए पूछने की परम्परा बनायी गयी होगी ताकि इतनी परीक्षा के पश्चात् भी यदि कोई अयोग्य स्त्री श्रामणेरी बन चुकी हो और भिक्षुणी बनने का प्रयत्न कर रही हो, तो उसे उसी समय निकाल दिया जाय। भिक्षुणियों की बढ़ती हुई संख्या तथा उससे उत्पन्न कठिनाइयों के कारण प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा में भेद किया गया, ताकि कोई अयोग्य नारी संघ में प्रवेश न कर सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धाचार्यों ने भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ अनेक नियम बनाए थे। उन्होंने शील-भंग सम्बन्धी प्रत्येक परिस्थिति की कल्पना कर उसके निवारण के लिए नियम बनाये। जो भिक्षुणियाँ किसी कारणवश गर्भिणी हो जाती थीं, उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक विचार किया

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३८७-८८.

२. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय।

जाता था। आसन्नगर्भा (सन्निसिन्नगब्भा) भिक्षुणियों के लिए एक सहायक भिक्षुणी देने की व्यवस्था थी। वह तब तक उस गर्भिणी भिक्षुणी की सहायता करती थी, जब तक कि उसका बच्चा समझदार न हो जाय।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में कुछ भिक्षुणियों यथा-षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ सुन्दरी नन्दा, थुल्लनन्दा, चण्डकाली, आदि कामाचार सम्बन्धी नियमों का अतिक्रमण करती हुई दिखायी गई हैं। ये घटनाएँ काल्पनिक जान पड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्खुनी पातिमोक्ख के नियमों की प्रकृति को समझाने के लिए पाराजिक पालि, पाचित्तिय पालि अदि ग्रन्थों में इनको प्रतीकात्मक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संघ में प्रवेश के पश्चात् भिक्षुणियाँ काम-वासना को जड़ से समाप्त करने का हर सम्भव प्रयत्न करती थीं। थेरीगाथा में बौद्ध भिक्षुणियों का मार (कुत्सित भावना) से जो वार्तालाप वर्णित है, उससे यह स्पष्ट होता है कि भिक्षुणियाँ काम-भावना पर विजय का प्रयत्न करती थीं तथा वासना की जड़ का मूलोच्छेदन कर निर्वाण अर्थात् परम शान्ति की अनुभूति करती थीं। सुमेधा के अनुसार कामासक्ति बन्धन को पैदा करती है तथा मनुष्य इससे अनेक दुःख भोगते हैं।[2] शैला मार से कहती है कि भोग का सुख भाले के प्रहार के समान देह को विद्ध करने वाला है; विषयों का सुख घृणा की वस्तु है। वह अपने आप को कहती है कि उसकी भोगासक्ति सब जगहों से दमित हो गई है तथा अज्ञानान्धकार विदीर्ण हो चुका है।[3] इसी प्रकार श्रावस्ती की उत्पलवर्णा भिक्षुणी मार को कड़े शब्दों में फटकारते हुए कहती है कि उसके जैसे हजारों मार भी उसका (उत्पलवर्णा का) कुछ नहीं बिगाड़ सकते।[4] वह कहती है कि उसने अपनी वासना का सब जगह से उच्छेदन कर अज्ञानान्धकार को समाप्त कर दिया है।[5]

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९९-४००.

२. "कामेसु हि वधबन्धो.कामकामा दुक्खानि अनुभोन्ति"

—थेरी गाथा, गाथा, ५०६.

३. वही, ५८.

४. "सतं सहस्सानं पि धुत्तकानं समागता एदिसका भवेय्युं।
लोकं न इञ्जे न पि सम्पवेधे किं मे तुवं मार करिस्ससि एको"

—वही, २३१.

५. "सब्बत्थ विहता नन्दि तमोक्खन्धो पदालितो"

—वही, २३५.

भिक्षुणियाँ अपनी इन्द्रियों को इतना वश में रखती थीं कि प्रलोभन देने पर भी उनमें काम-भावना उत्पन्न नहीं होती थी। इस सम्बन्ध में राजगृह की भिक्षुणी शुभा का उदाहरण द्रष्टव्य है--कलुषित विचारों को मन में लिए हुये एक कामासक्त पुरुष को, जो उसकी आँखों के प्रति आकर्षित था, शुभा ने अपनी आँखें निकाल कर दे दी थीं। शुभा अत्यन्त दृढ़ विश्वास के साथ कहती है कि कोई भी वस्तु उसके अन्दर राग का उद्रेक नहीं कर सकती। हाथ से फेंकी हुई चिन्गारी के समान तथा उड़ेले हुए विष के प्याले के समान उसका राग-भाव समाप्त हो गया है।[1] शिशूपचाला अपने को सदाचार-सम्पन्न तथा संयतेन्द्रिय भिक्षुणी कहती है।[2]

कुछ भिक्षुणियाँ वासना की जड़ का समूलोच्छेदन कर निर्वाण की अनुभूत अर्थात् परम शान्ति का वर्णन करतो हैं (सब्बत्थ विहता नन्दि तमोक्खन्धो पदालिता)। संयुत्त निकाय[3] में उल्लेख है कि नन्दा तथा अशोका नामक भिक्षुणियों ने निर्वाण पद को प्राप्त कर लिया था। इसी ग्रन्थ में भिक्षुणियाँ स्थविर आनन्द को यह बताती हैं कि श्रावस्ती के भिक्षुणी-विहार में कुछ भिक्षुणियाँ चार स्मृति-प्रस्थानों (काया, वेदना, चित्त, धर्म) में सुप्रतिष्ठित चित्त वाली होकर अधिक से अधिक विशेषता को प्राप्त हो रही हैं।[4]

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण संयुत्तनिकाय[5] तथा दीघनिकाय[6] में प्राप्त होते हैं। बुद्ध ने मार से कहा था कि जब तक भिक्षु-भिक्षुणियाँ विनयवान्, विशारद, बहुश्रुत तथा धर्मानुसार आचरण करने वाले नहीं हो जाते, तब तक वे परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होंगे। इसके प्रत्युत्तर में मार

---

१. "नत्थिहि लोके सदेवके रागो यत्थपि दानि मे सिया।
न पि मं जानामि कीरिसो अथ मग्गेन हतो समूलको॥
इङ्गालखुया व उज्झितो विसपुत्तोरिवअग्गतो कतो"।
—थेरी गाथा, गाथा, ३८५-८७.

२. "भिक्खुनो सालसम्पन्ना इन्द्रियेसु सुसंवुता"
—वही, १९६.

३. संयुत्त निकाय, ५८/१/८; ५८/१/९.

४. वही, ४५/१/१०.

५. वही, ४९/१/१०.

६. दीघ निकाय, २/३.

ने कहा था कि बुद्ध की भिक्षु-भिक्षुणियाँ उनकी इच्छा के अनुकूल विनीत एवं विशारद हो गये हैं। मज्झिम निकाय[1] के अनुसार वत्सगोत्र ने बुद्ध से पूछा कि कितनी भिक्षुणियाँ हैं, जो आश्रवों (चित्तमलों) के क्षय से आस्रव-रहित चित्त-विमुक्ति (मुक्ति), प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जान कर, साक्षात्कार कर विहरती हैं? बुद्ध ने उत्तर दिया कि ऐसी अनेक भिक्षुणियाँ हैं, जो चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विचरती हैं। महावंस[2] में थेरी संघमित्रा द्वारा निर्वाण-पद प्राप्त करने का उल्लेख है। महावंस[3] में ही १८००० भिक्षुओं तथा १४००० भिक्षुणियों द्वारा अर्हत्-पद पाने का उल्लेख है। इसी ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि अशोक के समय सम्पन्न हुई तीसरी बौद्ध संगीति में उपस्थित हुई भिक्षुणियों में से १००० आस्रव-मुक्त थीं।[4] फाहियान[5] तथा ह्वेनसांग[6]——दोनों चीनी यात्रियों ने वैशाली में निर्मित एक स्तूप का उल्लेख किया है। उस पर उत्कीर्ण लेख से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध की मौसी महाप्रजापति गौतमी तथा अन्य भिक्षुणियों ने निर्वाण-पद को प्राप्त किया था।

हम देखते हैं कि अधिकांश भिक्षुणियाँ शील-सम्पन्न होती थीं तथा ध्यान और साधना के द्वारा निर्वाण-पद को प्राप्त करती थीं। काम-राग आदि दोषों के ऊपर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली थी तथा सांसारिक आकर्षण से वे मुक्त हो चुकी थीं। मार द्वारा भय उपस्थित किए जाने पर भी उनमें भय का संचार नहीं होता, अपितु वे स्वयं मार को ही भयभीत कर देती हैं।

तुलना—दोनों संघों की भिक्षुणियों के शील सम्बन्धी विस्तृत नियमों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि दोनों संघों के आचार्य भिक्षुणियों की शील-रक्षा के प्रति अधिक चिन्तित थे। उन्होंने उन प्रत्येक परिस्थितियों के निवारण का प्रयत्न किया था जिनसे काम-भावना उद्दीप्त हो सकती थी। काम सम्बन्धी अपराधों के कारणों की उन्होंने सूक्ष्म

१. मज्झिम निकाय, २/७३.
२. महावंस, २०/५०.
३. वही, २९/६९.
४. वही, ५/१८८.
5. Buddhist Records of the Western world, Vol. I. P. 32.
6. Ibid, Vol, III. P. 309.

विवेचना की तथा ऐसी प्रवृत्ति को प्रारम्भ में ही रोक देने का प्रयत्न किया था। उदाहरणस्वरूप–दोनों संघों में नपुंसकों को दीक्षा देना निषिद्ध था। संघ में प्रवेश लेते समय ही इसकी कड़ी परीक्षा कर ली जाती थी। यहाँ यह अवलोकनीय है कि बौद्धाचार्यों की अपेक्षा जैन आचार्यों ने इस समस्या को अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक लिया था। नपुंसकों के भेदों-उपभेदों तथा उनके व्यवहार से सम्बन्धित जितनी विस्तृत समीक्षा जैन ग्रन्थों में मिलती है, उतनी बौद्ध ग्रन्थों में अप्राप्य है। दोनों संघों में भिक्षुणियों को कहीं अकेले आने-जाने का निषेध था। इसी प्रकार दोनों संघों में भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक व्यवहार के अनेक नियम थे, जिनका अतिक्रमण करने पर उन्हें दण्ड का भागी बनना पड़ता था। भिक्षु-भिक्षुणी के मध्य गहरे सम्बन्ध का विकसित होना दोनों संघों में निन्दनीय माना जाता था।

इसके साथ ही दोनों संघों में ऐसी भिक्षुणियों के प्रति सहानुभूति-पूर्वक विचार किया जाता था, जो परिस्थितियों के कारण (जिनमें उनका कोई दोष न हो) दीक्षा के पश्चात् गर्भिणी हो जाती थीं। जैन संघ के नियमानुसार ऐसी भिक्षुणियों को श्रद्धालु श्रावक के यहाँ रखने का विधान था तथा बौद्ध संघ के अनुसार ऐसी भिक्षुणियों के लिए एक सहायक भिक्षुणी देने की व्यवस्था थी।

षष्ठ अध्याय

संगठनात्मक व्यवस्था एवं दण्ड-प्रक्रिया

जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था

प्राचीन आगम ग्रन्थों से जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था का स्पष्ट रूप परिलक्षित नहीं होता है। इन ग्रन्थों से यह पता नहीं चलता कि भिक्षुणियों के लिए कौन-कौन से पद निर्धारित थे और उन पदों के आवश्यक कर्त्तव्य तथा अधिकार क्या थे ? आचारांग, ज्ञाताधर्मकथा तथा उपासकदशांग में भिक्खुणी (भिक्षुणी) तथा निग्गन्थी (निग्रन्थी) शब्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु इनसे संगठनात्मक व्यवस्था की कोई सूचना नहीं प्राप्त होती, क्योंकि यह एक सामान्य शब्द था, जो प्रत्येक प्रव्रजित नारी के लिए प्रयुक्त होता था। अन्तकृतदशांग में सिस्सिणी (शिशिनी) तथा अज्जा (आर्या) शब्द का प्रयोग किया गया है। सद्यः दीक्षित नारी को शिशिनी कहा गया है जो शिष्या का सूचक है, परन्तु वह शिशिनी के रूप में कब तक रहती थी तथा किन नियमों एवं व्रतों का पालन करती थी—स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार "अज्जा" शब्द का प्रयोग सद्यः प्रव्रजित नारी तथा प्रव्रज्या प्रदान करने वाली भिक्षुणी दोनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। उदाहरणस्वरूप-पद्मावती को प्रव्रज्या प्रदान करने वाली यक्षिणी को "अज्जा" कहा गया है तथा पद्मावती को भी आर्या बनकर ईर्यासमिति का पालन करने वाला बताया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि "अज्जा" शब्द का प्रयोग दीक्षा के पश्चात् ही प्रयुक्त किया जाता था। परन्तु यह भी कोई विशिष्ट शब्द नहीं था, जिसके आधार पर भिक्षुणियों के पद-निर्धारण का कोई क्रम निश्चित किया जा सके।

सर्वप्रथम छेद सूत्रों (मुख्यतः बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहार सूत्र) से जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था की कुछ सूचना प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में भिक्षुणी, निर्ग्रन्थी, आर्या के अतिरिक्त पवत्तिणी (प्रवर्त्तिनी) तथा गणावच्छेइणी (गणावच्छेदिनी) शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि "पवत्तिणी" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग समवायांग प्रकीर्णक में हुआ है,

१. अन्तकृतदशांग, पंचम वर्ग।

परन्तु इससे कुछ सूचना नहीं प्राप्त होती । प्रवर्त्तिनी की स्थिति बाद के भाष्य आदि ग्रन्थों से स्पष्ट होती है, परन्तु प्रवर्त्तिनी से भिन्न गणावच्छेदिनी की क्या स्थिति थी—छेद ग्रन्थों से यह स्पष्ट नहीं होता । छेद ग्रन्थों में सर्वत्र "पवत्तिणी वा गणावच्छेइणी" कहा गया है ।

जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था का विकसित रूप भाष्यों, चूर्णियों एवं टीकाओं से प्राप्त होता है, जिसकी सहायता से उसकी एक क्रमबद्ध रूप-रेखा बनाई जा सकती है । बृहत्कल्पभाष्य में भिक्षुणी-संघ के पाँच पदों का उल्लेख है, जो इस प्रकार है—प्रवर्त्तिनी, अभिषेका, भिक्षुणी, स्थविरा, क्षुल्लिका ।[1]

खुड्डि (क्षुल्लिका)

यह सद्यः प्रव्रजित नारी होती थी । बृहत्कल्पभाष्य में इसे "बाला"[2] कहा गया है । इससे यह प्रतीत होता है कि संघ के आचार-नियमों की इसे पूरी जानकारी नहीं रहती थी । दक्षिण भारत के अभिलेखों में जैन भिक्षुणियों के समाधिमरण तथा दान देने के अवसरों पर उनके लिए "गुड्डि" शब्द का प्रयोग किया गया है, जो प्रायः शिष्याओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । सम्भवतः यह प्राकृत 'खुड्डि" का ही दक्षिण भारतीय रूपान्तर था । क्षुल्लिका के रूप में वह नियमों को कब तक सीखती थी—इसका कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता ।

भिक्खुणी (भिक्षुणी)

नियमों की सम्यक् जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र को प्राप्त क्षुल्लिका भिक्षुणी कहलाती थी । जैन ग्रन्थों के निग्गन्थी (निर्ग्रन्थी) तथा साध्वी शब्द भिक्षुणी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं ।

उत्तर भारत के अधिकांश जैन अभिलेखों में भिक्षु की शिष्या के रूप में भिक्षुणी के लिए "शिशिनी" शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु आश्चर्यजनकरूप से मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख[3] में भदन्त जयसेन की शिष्या

---

१. "संयत्यः क्षुल्लिका स्थविरा भिक्षुणी अभिषेका प्रवर्त्तिनी चेति पञ्चविधाः"
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २४०७–टीका.
"निर्ग्रन्थीवर्गेऽपि पञ्चपदानि, तद्यथा–प्रवर्त्तिनी अभिषेका भिक्षुणी स्थविरा क्षुल्लिका च"
वही, भाग षष्ठ, ६१११—टीका.

२. वही, भाग चतुर्थ, ४३३९—टीका.

3. List of Brahmi Inscriptions, 11.

धर्मघोषा का उल्लेख है, जिसे "अन्तेवासिनी" कहा गया है, जबकि यह विशेषण प्रमुखतः बौद्ध भिक्षुणियों के लिए प्रयुक्त होता था।

थेरी (स्थविरा)

सामान्य रूप से यह शब्द वृद्धा एवं बहुत वर्षों की दीक्षित भिक्षुणी के लिए प्रयुक्त होता था। संगठनात्मक व्यवस्था में यह भिक्षुणी के पहले आती है[1]। यद्यपि सद्यः दीक्षित वृद्ध भिक्षुणी का स्थान पूर्व दीक्षित भिक्षुणी के बाद ही था[2]। अतः यह स्पष्ट होता है कि दीक्षा-स्थविरा का पद भिक्षुणी से उच्च से था किन्तु सद्यः दीक्षित मात्र वय-स्थविरा का पद भिक्षुणो से निम्न था। थेरी के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के बारे में भी हमें कोई स्पष्ट सूचना नहीं प्राप्त होती।

अभिषेका

इस पद के सम्बन्ध में भी हमें पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त होती। पद-विभाजन के क्रम से यह स्पष्ट होता है कि इसकी स्थिति प्रवर्त्तिनी से निम्न थी। अभिषेका को प्रवर्त्तिनी-पद के योग्य माना गया है[3], अतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवर्त्तिनी की मृत्यु के बाद अभिषेका को उस पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। अभिषेका को गणिनी के समकक्ष भी माना गया है[4]। यह भावी गणिनी होती थी तथा गणिनी की वृद्धावस्था में उसके कार्यों को देखती थी।

पवत्तिणी (प्रवर्त्तिनी)

भिक्षुणी-संघ में यह अत्यन्त महत्त्व का पद था। प्रवर्त्तिनो को साध्वियों की नायिका कहा गया है।[5] इस महत्त्वपूर्ण पद पर योग्य साध्वी ही अधिष्ठित की जाती थी। इस पद के लिए आचार-प्रकल्प (दण्ड

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४३३९—टीका.
२. वही, भाग तृतीय, २४०७—टीका.
३. "अभिषेकप्राप्ता प्रवर्त्तिनीपदयोग्या"—वही, भाग चतुर्थ, ४३३९—टीका.
४. "गणिनी अभिषेका तस्याः सदृशः"
—वही, भाग तृतीय, २४११—टीका.
५. "प्रवर्त्तिनी सकलसाध्वीनां नायिका"
—वही, भाग चतुर्थ, ४३३९—टीका.

आदि से सम्बन्धित नियम) की जानकारी आवश्यक थी। आचार-प्रकल्प के नियमों को विस्मृत कर देने पर भिक्षुणी इस पद के लिए अयोग्य हो जाती थी, परन्तु इन नियमों को पुनः याद कर लेने के पश्चात् वह इस पद की अधिकारिणी मान ली जाती थी।[1]

इस पद की नियुक्ति में अनेक नियमों का पालन करना पड़ता था। यात्रा आदि के समय मरणासन्न प्रवर्त्तिनी द्वारा प्रस्तावित किसी भिक्षुणी को कुछ समय के लिए इस पद पर बैठा दिया जाता था—ऐसा करना इसलिए आवश्यक था, क्योंकि किसी भी अवस्था में जैन भिक्षुणियों को प्रवर्त्तिनी के बिना रहने की आज्ञा नहीं थी। पर ऐसी पदासीन भिक्षुणी स्थायी रूप से इस पद की अधिकारिणी नहीं मान ली जाती थी। यदि वह अयोग्य समझी जाती थी, तो संघ की अन्य भिक्षुणियाँ मिलकर उसे पद से हटा देती थीं तथा योग्य भिक्षुणी को इस पद पर बैठाती थीं। अस्थायी रूप से नियुक्त प्रवर्त्तिनी को भी संघ की भिक्षुणियों द्वारा यथोचित सम्मान देने का विधान था।[2]

प्रवर्त्तिनी का मुख्य कर्त्तव्य अपने संघ की भिक्षुणियों की सुरक्षा करना था। हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में यात्रा आदि के समय प्रवर्त्तिनी को कम से कम दो भिक्षुणियों के साथ तथा वर्षा ऋतु में कम से कम तीन भिक्षुणियों के साथ रहने का विधान था।[3] प्रवर्त्तिनी का एक प्रमुख कार्य संघ में उत्पन्न हुए कलह को शान्त करना होता था। वह मधुर वाणी में भिक्षुणियों के कलह को शान्त करने का प्रयास करती थी।[4] योग्य नारियों को संघ में दीक्षित कराने का गुरुतर कार्य भी प्रवर्त्तिनी को ही करना पड़ता था।

जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था में उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त गणावच्छेइणी (गणावच्छेदिनी), गणिनी तथा मयहरिया (महत्तरिका) नामक कुछ अन्य पदों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

गणावच्छेइणी (गणावच्छेदिनी)

सर्वप्रथम छेद ग्रन्थों में गणावच्छेदिनी का उल्लेख प्राप्त होता है। इसका उल्लेख न तो आगम ग्रन्थों में है और न तो परवर्ती काल के भाष्य

१. व्यवहार सूत्र, ५/१६.
२. वही, ५/ २-१४.
३. वही, ५/१-४.
४. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २२२२.

तथा चूर्णियों में। अतः इसकी वास्तविक स्थिति के बारे में कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता। छेद ग्रन्थों में सर्वत्र "पवत्तिणी वा गणावच्छेइणी" कहा गया है—इससे गणावच्छेदिनी की स्थिति प्रवर्त्तिनी के समान ही महत्त्वपूर्ण प्रतोत होती है। प्रवर्त्तिनी के समान इस पद के लिए भी आचार-प्रकल्प की सम्यक् जानकारी आवश्यक थी, क्योंकि गणावच्छेदिनी पद के लिए भी ठीक वही योग्यताएँ निर्धारित थीं, जी प्रवर्त्तिनी पद के लिए थीं।[1] प्रवर्त्तिनी के समान योग्यता रखते हुए भी इसकी स्थिति प्रवर्त्तिनी से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। उदाहरणस्वरूप-प्रवर्त्तिनी को हेमन्त, ग्रीष्म तथा वर्षाऋतु में क्रमशः २, ३ भिक्षुणियों के साथ रहने का विधान था, वहीं गणावच्छेदिनी इन्हीं ऋतुओं में ३ तथा ४ की संख्या से कम भिक्षुणियों के साथ यात्रा आदि नहीं कर सकती थी।[2]

गणिनी

संगठनात्मक व्यवस्था में गणिनी की क्या स्थिति थी; यह स्पष्ट नहीं हो पाता। नियमों का अतिक्रमण करने पर भिक्षुणियों के लिए जो दण्ड की व्यवस्था थी, उससे प्रतीत होता है कि गणिनी का पद अभिषेका के समान था। जैन दण्ड-व्यवस्था में अपराध करने पर पद की स्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त गुरुतर होता जाता था। उच्च पदाधिकारियों के लिए कठोर दण्ड तथा निम्न पदाधिकारियों के लिए नरम दण्ड की व्यवस्था थी। उदाहरण-स्वरूप भिक्षुणी को जल के किनारे ठहरना तथा वहाँ स्वाध्याय आदि करना निषिद्ध था। इस नियम का अतिक्रमण करने पर गणिनी तथा अभिषेका को छेद प्रायश्चित्त तथा प्रवर्त्तिनी को मूल प्रायश्चित्त देने का विधान था।[3] अभिषेका का पद प्रवर्त्तिनी से निम्न था, अतः गणिनी का पद भी प्रवर्त्तिनी से निम्न प्रतीत होता है। परन्तु कभी-कभी गणिनी प्रवर्त्तिनो के समकक्ष मानी गई है।[4] अतः गणिनी के विषय में यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह पद प्रवर्त्तिनो तथा अभिषेका से किन अर्थों में भिन्न था।

---

१. व्यवहार सूत्र, ५/१६.
२. वही, ५/१-४; ५/५-८; ५/९-१०.
३. "गणिनी अभिषेका सा छेदे, प्रवर्त्तिनी पुनर्मूले तिष्ठतीति"
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २४१०—टीका.
४. "गणिनी प्रवर्त्तिनी सा भिक्षुसदृशी मन्तव्या"
—वहीं, भाग षष्ठ, ६१११—टीका

गणिनी पद को धारण करने वाली भिक्षुणी में अनेक गुणों तथा योग्यताओं का होना आवश्यक था। वह अत्यन्त विदुषी तथा प्रशासनिक कार्यों में दक्ष होती थी। यद्यपि वह स्वाध्याय तथा ध्यान में सदा लीन रहती थी तथापि जिनशासन की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो जाने पर वह उग्र रूप धारण कर लेती थी। शिक्षा प्रदान करने में वह किसी प्रकार का प्रमाद या आलस्य नहीं करती थी। गणिनी को गुणसम्पन्न कहा गया है। वह संघ की मर्यादा की रक्षा में सदा तत्पर रहती थी तथा साध्वियों की संख्या में वृद्धि का सतत प्रयत्न करती थी।[1] मथुरा से प्राप्त जैन अभिलेखों में भिक्षुओं के लिए "वाचक" या "गणिन वाचक" विशेषण का प्रयोग किया गया है। वाचक का अर्थ उपदेशक से है।[2] अतः यह प्रतीत होता है कि जैन भिक्षुणी-संघ में गणिनी भी भिक्षुणियों को धर्मोपदेश दिया करती थी। इस प्रकार शिक्षा के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का वह निर्वहन करती थी।

गणिनी की नियुक्ति किस प्रकार की जाती थी, इसकी हमें कोई सूचना नहीं प्राप्त होती।

मयहरिया (महत्तरिका)

यह पद भी भिक्षुणी-संघ का एक महत्त्वपूर्ण पद था। गच्छाचार से ज्ञात होता है कि भिक्षुणियों को अपने अतिचारों की उसके समक्ष आलोचना करनी पड़ती थी।[3] मूलाचार में गणिनी को ही महत्तरिका कहा गया है।[4] सम्भवतः वह योग्य वृद्धा भिक्षुणी के समान आदर की पात्र रही होगी।

जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था में भिक्षुणियाँ इन्हीं पदों पर अधिष्ठित की जाती थीं। इसके अतिरिक्त संघ में आचार्य एवं

---

१. "समा सीसपडिच्छीणं, चोअणासु अणालसा
गणिणी गुणसंपन्ना, पसत्थपुरिसाणुगा
संविग्गा भीयपरिसा य, उग्गदंडा य कारणे
सज्झायज्झाणजुत्ता य, संगहे [अ विसारआ

—गच्छाचार, १२७-२८.

२. List of Brahmi Inscriptions, 52,53,56 etc.

३. गच्छाचार, ११८.

४. "गणिनीं महत्तरिकां" मूलाचार, ४|१९२–टीका.

उपाध्याय नामक दो उच्चस्थ पदाधिकारी होते थे। परन्तु इन पदों पर केवल भिक्षु ही आसीन हो सकता था, कोई भिक्षुणी नहीं। भिक्षुणी को बिना आचार्य या उपाध्याय के रहना निषिद्ध था। संघ के नियमों के अनुसार ३ वर्ष की दीक्षा वाला भिक्षु ३० वर्ष की दीक्षा वाली भिक्षुणी का उपाध्याय तथा ५ वर्ष की दीक्षा वाला भिक्षु ६० वर्ष की दीक्षा वाली भिक्षुणी का आचार्य बन सकता था।[1]

दिगम्बर जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था

दिगम्बर जैन भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें अत्यन्त अल्प सूचना प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भिक्षुणियों के संघ-प्रवेश, उनकी शारीरिक योग्यताओं आदि के सम्बन्ध में जो नियम हैं, वे नियम यहाँ भी लागू होते रहे होंगे। बहुत सम्भव है कि इन नियमों में और कठोरता का समावेश किया गया हो। दिगम्बर भिक्षु को संघ-प्रवेश के पूर्व अपने माता-पिता, स्त्री, पुत्र से पूछना आवश्यक था[2] तथा उसकी अनुमति मिलने पर ही वह आचार्य के पास जाकर दीक्षा की याचना कर सकता था।[3] उसके लिए भी केश-लुंचन आवश्यक था—यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि ये सारे नियम स्त्रियों के सम्बन्ध में लागू होते रहे होंगे।

संघ-व्यवस्था में भिक्षुणियों के लिए कौन-कौन से पद थे, उनकी आवश्यक योग्यता एवं कर्त्तव्य क्या थे—इसकी भी अत्यन्त अल्प सूचना प्राप्त होती है।

मूलाचार में दिगम्बर भिक्षुणियों को "अज्जा (आर्या)" कहा गया है। इनके लिए "संयती"[4] तथा "तपस्विनी"[5] शब्द का भी प्रयोग किया गया है। भिक्षुणी बनने के पूर्व उसे किन नियमों एवं व्रतों का पालन करना पड़ता था तथा वह नियमों को कब तक सीखती थी, इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता। सम्भवतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय की भिक्षुणियों के नियम के समान इसके भी नियम रहे होंगे।

---

१. व्यवहार सूत्र, ७/१९-२०.
२. प्रवचनसार, ३/२.
३. वही, ३/३.
४. "आर्याणां संयतीनां"—मूलाचार, ४/१८४—टीका; ४/१९१—टीका.
५. "आर्याणां तपस्विनीनां"—वही, ४/१८५—टीका.

थेरी (स्थविरा)

वृद्धा भिक्षुणी को ही थेरी कहा जाता था ।[१] भिक्षा आदि की गवेषणा के समय भिक्षुणियों को थेरी के साथ ही जाने का निर्देश दिया गया था । इसके अतिरिक्त थेरी के क्या कर्त्तव्य एवं अधिकार थे, कोई सूचना नहीं प्राप्त होती ।

गणिणी (गणिनी)

भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद था । गणिनी अपने भिक्षुणियों के नैतिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक रहती थी । यात्रा या भिक्षा के लिए बाहर जाते समय गणिनी से अनुमति लेनी अनिवार्य थी ।[२] इसी प्रकार किसी भिक्षु से प्रश्न पूछने के समय भिक्षुणी को यह निर्देश दिया गया था कि वह गणनी को आगे करके ही प्रश्न आदि पूछे ।[३] गणिनी अपने गण की प्रधान होती थी । गणिनी को ही महत्तरिका कहा गया है ।[४] गणिनी पद पर अधिष्ठित होने के लिए योग्यता का क्या मापदण्ड था, इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता ।

दिगम्बर भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था में थेरी तथा गणिनी —ये दोनों पद अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण थे । वे संघ के सभी नियमों की जानकार एवं प्रशासनिक योग्यता में अत्यन्त निपुण रहती रहीं होंगी । सम्भवतः श्वेताम्बर भिक्षुणी-संघ के प्रवर्त्तिनी, गणिनी आदि पद की तरह इनके भी उसी प्रकार अधिकार एवं कर्त्तव्य रहे होंगे ।

मूलाचार आर्यिकाओं (भिक्षुणियों) के लिए एक गणधर की व्यवस्था करता है । गणधर को मर्यादोपदेशक तथा प्रतिक्रमणादि कार्यों को सम्पन्न कराने वाला आचार्य कहा गया है । यह पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था तथा इस पद के संवाहक में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक माना गया था । प्रियधर्म (क्षमा आदि गुणों से युक्त), दृढ़ धर्म (धर्म में स्थिर), संविग्न (धर्मादिक कार्य में रुचि रखने वाला), परिशुद्ध (अखण्डित आचरण वाला), संग्रह (दीक्षा, शिक्षा, व्याख्यान आदि में प्रवीण), तथा

---

१. "स्थविराभिः वृद्धाभिः"—मूलाचार ४/१९४-टीका.

२. वही, ४/१९२.

३. वही, ४।१७८.

४. "गणिनीं तासां महत्तरिकां प्रधानां"—वही, ४/१७८-टीका.
"गणिनीं महत्तरिकां"—वही, ४/१९२-टीका.

कुशल भिक्षु ही गणधर बन सकता था। वह गम्भीर, दुर्धर्ष (स्थिर चित्त-वाला), मितवादी, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ (आचार-प्रायश्चित आदि नियमों का ज्ञाता) होता था।[1]

उपर्युक्त गुणों से रहित भिक्षु के गणधर बनने पर गण का विनाश माना गया था। टीकाकार के अनुसार ऐसा गणधर छेद, मूल, परिहार तथा पारांजिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।[2]

दोनों सम्प्रदायों के भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यस्था का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणी-संघ का एक सुव्यवस्थित संगठन था। उनके विभिन्न पदों के लिए आवश्यक कर्त्तव्य तथा अधिकार निश्चित कर दिये गये थे। इसके विपरीत दिगम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था का अविकसित रूप ही परिलक्षित होता है।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था

बौद्ध भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था सम्बन्धी पदों के निर्माण में एक क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय अष्टगुरुधर्मों को स्वीकार कर लेने पर नारी को प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा दोनों प्राप्त हो जाती थी तथा वह भिक्षुणी कहलाने लगती थी। महाप्रजापति गौतमी तथा उसके साथ की स्त्रियों को इसी प्रकार प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा प्राप्त हुई थी।[3] परन्तु जब भिक्षुणी बनने हेतु स्त्रियों की संख्या में वृद्धि होने लगी, तब प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा में भेद कर दिया गया तथा सामणेरो (श्रामणेरी) तथा सिक्खमाना (शिक्ष-माणा) नामक नये पदों का सृजन हुआ।

---

१. "पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो.
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि
—मूलाचार, ४/१८३-८४.

२. "पूर्वोक्तगुणव्यतिरिक्तो यद्यार्याणां गणधरत्वं करोति तदानीं तस्य चत्वारः कालाविनाशमुपयान्ति, अथवा चत्वारि प्रायश्चित्तानि लभते गच्छादेर्वि-राधना च भवेदिति, —वही, ४/१८५—टीका।

३. चुल्लवग्ग, पृ० ३७८.

सामणेरी (श्रामणेरी)

यह बौद्ध भिक्षुणी-संघ की सद्यः प्रव्रजित नारी होती थी। भिक्षुणी-पद प्राप्त करने के पहले नारी को श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा के रूप में नियमों को सीखना पड़ता था। श्रमणेरी के लिए अलग से नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। अतः यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि भिक्षु-संघ के श्रामणेर के लिए जो नियम थे, वे ही नियम श्रामणेरी के लिए भी रहे होंगे।

सामणेर (श्रामणेर)

बौद्ध संघ में प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम प्रव्रज्या ग्रहण कराई जाती थी। प्रवेशार्थी को शिर के बाल कटवाना तथा कषाय वस्त्र धारण करना पड़ता था। वह बुद्ध, धर्म तथा संघ में शरण ग्रहण करता था। श्रामणेर को दस शिक्षापद नियमों (दससिक्खापद) के पालन का व्रत लेना पड़ता था। ये दस बातें निम्न थीं।[1]

(१) प्राण-हिंसा से विरत रहना,
(२) चोरी करने से विरत रहना,
(३) अब्रह्मचर्य से विरत रहना,
(४) झूठ बोलने से विरत रहना,
(५) सुरा एवं मद्य के सेवन से विरत रहना,
(६) विकाल (मध्याह्न-बाद) भोजन करने से विरत रहना,
(७) नृत्य, गीत, वाद्य आदि से विरत रहना,
(८) माला तथा आभूषणों को धारण करने से विरत रहना,
(९) ऊँची शय्या के प्रयोग से विरत रहना,
(१०) सोना, चाँदी आदि के ग्रहण करने से विरत रहना।

इसे "दशशीलम्" भी कहा जाता था। महवंस[2] में रानी अनुला द्वारा इन दशशीलों को स्वीकार करने का उल्लेख है।

प्रव्रज्या प्राप्त करने के पश्चात् श्रामणेर को किसी योग्य भिक्षु के निश्रय में तब तक रहने का विधान था जब तक कि उसको उपसम्पदा प्राप्त नहीं हो जाती। श्रामणेर को पातिमोक्ख की वाचना वाले उपोसथ में तथा अन्य संघ-कर्मों में उपस्थित होने का निषेध था।[3]

---

१. महावग्ग, पृ० ८७.
२. महावंस, १८/१०.
३. महावग्ग, पृ० १८१.

सिक्खमाना (शिक्षमाणा)

श्रामणेरी के रूप में सिक्खापदों का सम्यक्‌रूपेण पालन करने के पश्चात् वह शिक्षमाणा कहलाती थी। शिक्षमाणा को कम से कम दो वर्ष तक षड् नियमों का पालन करना अनिवार्य था। ये छः शिक्षाप्रद बातें निम्न थीं[1]:—

(१) प्राण-हिंसा से विरत रहना,
(२) चोरी करने से विरत रहना,
(३) अब्रह्मचर्य से विरत रहना,
(४) मृषावाद से विरत रहना,
(५) सुरा-मद्य के सेवन से विरत रहना,
(६) विकाल भोजन करने से विरत रहना,

इन छः सिक्खापदों को सीखने के लिए श्रामणेरी ञतिदुतियकम्म के माध्यम से भिक्षुर्णी-संघ के समक्ष निवेदन करती थी तथा इन नियमों के पालन करने की प्रतिज्ञा करती थी।[2]

अविवाहित श्रामणेरी जो शिक्षमाणा के रूप में दो वर्ष व्यतीत करती थी, कुमारीभूता शिक्षमाणा कहलाती थी। कुमारीभूता शिक्षमाणा की आयु उपसम्पदा के समय २० वर्ष से कम नहीं रहनी चाहिए।[3] विवाहित श्रामणेरी, जो शिक्षमाणा के रूप में दो वर्ष व्यतीत करती थी, गिहीगता शिक्षमाणा कहलाती थी तथा इसकी आयु उपसम्पदा के समय १२ वर्ष से कम नहीं रहनी चाहिए।[4]

दो वर्ष तक इन सिक्खापदों (व्रतों) का पालन करने के पश्चात् ही शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्राप्त करायी जाती थी। ऐसी श्रामणेरी को उपसम्पदा प्रदान करने पर पाचित्तिय का दण्ड लगता था जिसने शिक्ष-माणा के रूप में दो वर्ष व्यतीत न किया हो।[5] शिक्षमाणा को अपनी प्रवर्त्तिनी के साथ ६ या ७ योजन तक भ्रमण करने का विधान था।[6]

---

१. पाचित्तिय पालि, पृ० ४३५-३७.
२. वही, पृ० ४३६।
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ७१.
४. वही, ६५.
५. वही, ६३, ७२.
६. वही, ७०.

श्रामणेरी के समान शिक्षमाणा को भी पातिमोक्ख की वाचना वाले उपोसथ में उपस्थित होने का निषेध था।[1]

भिक्खुनी (भिक्षुणी)

दो वर्ष तक षड् सिक्खापदों का पालन करने के पश्चात् जब गिहीगता शिक्षमाणा कम से कम १२ वर्ष की तथा कुमारीभूता शिक्षमाणा कम से कम २० वर्ष की हो जाती थी, तब उसे भिक्षुणी-संघ तथा भिक्षु-संघ में "ञतिचतुत्थकम्म" के माध्यम से उपसम्पदा प्रदान की जाती थी। अब वह भिक्षुणी कहलाती थी। उपसम्पदा प्रदान करने के पूर्व शिक्षमाणा से अन्तरायिक प्रश्न पूछे जाते थे, ताकि शारीरिक तथा मानसिक रूप से कोई अयोग्य नारी भिक्षुणी न बन सके।[2]

हमें ग्रन्थों एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से भिक्षुणी के अनेक पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं। महासांघिकों के भिक्षुणी विनय में काली नामक भिक्षुणी को "श्रमणिका" कहा गया है।[3] अमरावती से प्राप्त बौद्ध अभिलेखों (Amaravati Buddhist Sculpture Inscriptions) में भी कुछ भिक्षुणियोंको "श्रमणिका" कहा गया है।[4] इसी प्रकार कन्हेरी (Kanheri Buddhist Cave Inscription) तथा कुदा[6] (Kuda Buddhist Cave Inscription) से प्राप्त बौद्ध अभिलेखों में उन्हें पवतिका तथा नासिक बौद्ध गुफा अभिलेख[7] (Nasik Buddhist cave Inscription) में "पवयिता" कहा गया है। अमरावती से प्राप्त अन्य अभिलेखों में भिक्षुणी के लिए "पवजितिका' शब्द का प्रयोग किया गया है।[8] अमरावती से ही प्राप्त अनेक बौद्ध अभिलेखों में भिक्षुणी के लिए "अन्तेवासिनी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[9]

---

१. महावग्ग, पृ० १४१.
२. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय।
३. "काली नाम श्रमणिका" —भिक्षुणी विनय §१५८.
4. List of Brahmi Inscriptions, 1242, 1258.
5. Ibid, 1006, 1020.
6. Ibid, 1060.
7. Ibid, 1128.
8. Ibid, 1240, 1262.
9. Ibid, 1224, 1237, 1246, 1286, 1295 आदि।

श्रामणेरी, शिक्षमाणा और भिक्षुणी का पद-विभाजन तथा ज्येष्ठता के अनुसार उनके कर्त्तव्य एवं अधिकार संघ तक ही सीमित थे। संघ के बाहर अर्थात् श्रावक-श्राविकाओं के लिए वह सामान्य रूप से भिक्षुणी के रूप में जानी जाती थी। यह इसलिए भी सम्भव प्रतीत होता है कि वस्त्र आदि के धारण करने के सम्बन्ध में इन तीनों पदों में कोई भेद नहीं था जिससे सामान्य जन इनमें अन्तर स्थापित कर सकें। संघ में प्रव्रजित सभी स्त्रियाँ चाहे वे श्रामणेरी हों, शिक्षमाणा हों या भिक्षुणी हों, काषाय वस्त्र ही धारण करती थीं।

थेरी

भिक्षुणी-संघ का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद था। महावंस में संघमित्रा को 'थेरी' शब्द से अभिहित किया गया है। इसी पकार कन्हेरी बौद्ध गुहा अभिलेख (Kanheri Buddhist Cave Inscription) में घोषा की अन्तेवासिनी पूर्णकृष्णा को "थेरी" कहा गया है।[1]

थेरी के लिए अलग से नियमों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भिक्षु-संघ के "थेर" के नियमों के आधार पर "थेरी" के भी कर्त्तव्यों, अधिकारों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उपसम्पदा के १० वर्ष पश्चात् भिक्षु "थेर" कहलाने का अधिकारी होता था।[2] योग्य तथा नियमों का जानकार थेर ही उपाध्याय तथा आचार्य बनने का अधिकारी था।

पवत्तिनी (प्रवर्तिनी, उपाध्यायिनी या उपाध्याया)

प्रवर्त्तिनी को ही उपाध्याया कहते थे।[3] प्रवर्त्तिनी के ही निश्रय में श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा नियमों को सीखती थीं। १२ वर्ष की उप-सम्पन्न भिक्षुणी ही प्रवर्त्तिनी या उपाध्याया बन सकती थी तथा वही संघ की सम्मति से शिक्षमाणा को उपसम्पदा प्रदान कर सकती थी। इस नियम का उल्लंघन करने पर पाचित्तिय का दण्ड लगता था।[4] उपसम्पदा प्रदान करने के पश्चात् प्रवर्त्तिनी को ५ या ६ योजन तक उसके साथ

1. List of Brahmi Inscriptions, 1006.
२. "परिपुण्णदसवस्सताय थेरो"
—समन्तपासादिका, भाग प्रथम, पृ० २३२.
३. "पवत्तिनी नाम उपज्झाया वुच्चति"
—पाचित्तिय पालि, पृ० ४४८.
४. पातिमोक्ख, भिखुनी पाचित्तिय, ७४, ७५.

यात्रा करने का विधान था। अन्यथा उसको पाचित्तिय का दण्ड लगता था।

बौद्ध ग्रन्थों में उपाध्याय तथा शिष्य के मध्य मधुर सम्बन्धों का उल्लेख प्राप्त होता है। उपाध्याय वह है, जो अपने शिष्य के दोषों का ज्ञाता हो तथा उन दोषों का दमन करने में समर्थ हो।[१] उपाध्याय अपने शिष्य के साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था तथा शिष्य भी उपाध्याय के साथ पितातुल्य व्यवहार करता था।[२] उपाध्याय अपने रोगी शिष्य की हर प्रकार से सेवा करता था—यहाँ तक कि वह शिष्य के शयन के लिए चादर आदि भी बिछाता था। वह अपने शिष्य के पात्र एवं चीवरों का पूरा ध्यान रखता था। शिष्य को दण्ड प्राप्त होने पर उपाध्याय प्रायश्चित्त के समय उसकी सहायता करता था। इसी प्रकार का पुत्रवत् कर्त्तव्य शिष्य का भी था। वह अपने उपाध्याय की सेवा में सदैव तत्पर रहता था।[३]

शिष्य यदि उपाध्याय में रुचि नहीं रखता था, उसके प्रति श्रद्धा नहीं रखता था तथा लज्जाशील नहीं होता था, तो शिष्य को हटाने का भी विधान था। परन्तु सम्यक् आचरण करने वाले शिष्य को हटाना उचित नहीं माना जाता था।[४]

इसी प्रकार के मधुर सम्बन्ध उपाध्याया एवं शिक्षमाणा के मध्य भी रहे होंगे।

अमरावती से प्राप्त एक बौद्ध अभिलेख (Amaravati Buddhist Stone Inscription) में भिक्षुणी समुद्रिका को "उपाध्यायिनी" कहा गया है।[५] इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी अभिलेख में किसी भिक्षुणी के लिए "उपाध्याया" या 'उपाध्यायिनी" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता।

---

१. समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १०२५.

२. "उपज्झायो सद्धिविहारिकम्हि पुत्तचित्तं उपट्ठपेस्सति, सद्धिविहारिको उपज्झायम्हि पितुचित्तं उपट्ठपेस्सति"—महावग्ग, पृ० ४३.

३. वही, पृ० ४८-५१.

४. वही, पृ० ६५-६७.

5. List of Brahmi Inscriptions, 1286.

तुलना

जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में भिक्षुणियों को भिक्षुणी-पद प्राप्त करने के पहले नियमों का सम्यक्‌रूपेण ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। जैन भिक्षुणी-संघ में क्षुल्लिका के रूप में तथा बौद्ध भिक्षुणी-संघ में श्रामणेरी तथा शिक्षमाणा के रूप में वे नियमों का ज्ञान प्राप्त करती थीं। दोनों संघों में प्रवर्त्तिनी का मुख्य कर्त्तव्य अपनी शिष्याओं को नियमों का ज्ञान प्राप्त कराना तथा उन्हें भिक्षुणी-पद की दीक्षा प्रदान करना था। जैन संघ की संगठनात्मक व्यवस्था में आचार्य तथा उपाध्याय के पदों पर केवल भिक्षु ही अधिष्ठित हो सकता था--कोई भिक्षुणी नहीं। जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवर्त्तिनी तथा गणिनी का पद सर्वोच्च होता था। बौद्ध भिक्षुणी-संघ की संगठनात्मक व्यवस्था में उपाध्याया अथवा प्रवर्त्तिनी का पद सर्वोच्च था। प्रवर्त्तिनी को ही उपाध्याया कहा गया है। जैन संघ क समान बौद्ध संघ में भी सर्वोच्च पद भिक्षुओं के लिए ही सुरक्षित थे।

दोनों भिक्षुणी-संघों की संगठनात्मक व्यवस्था का एक क्रमिक विकास परिलक्षित होता है। प्रारम्भ में संघ में दीक्षित होने वाली प्रत्येक नारी को "आर्या" अथवा "भिक्षुणी" के नाम से जाना जाता था। परन्तु संघ में नारियों की संख्या में वृद्धि होने के कारण तथा प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए दोनों संघों में क्रमशः अनेक पदों का सृजन हुआ।

जैन संघ में दण्ड-प्रक्रिया

संघ की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए तथा नियमों को दृढ़ता से स्थापित करने के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी थी। दण्ड के भय से भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ नियमों का अतिक्रमण नहीं करेंगे, यह विश्वास किया गया था।

अपराध करने पर उसके निवारण के लिए प्रायश्चित्तों का विधान था। जैन धर्म के अनुसार दण्ड अथवा प्रायश्चित्त के दो प्रमुख भेद हैं:—

(१) उद्घातिक प्रायश्चित्त
(२) अनुद्घातिक प्रायश्चित्त

जो प्रतिसेवना लघु प्रायश्चित्त से सरलता से शुद्ध की जा सके, उसे उद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं तथा जो प्रतिसेवना गुरु प्रायश्चित्त से कठिनता से शुद्ध की जा सके—उसे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायश्चित्त के मुख्य १० भेद हैं[1]—

(१) **आलोचना**—अपने लिए स्वीकृत व्रतों का यथाविधि पालन करते हुये अनजान में भी हुए दोषों को गुरु के समक्ष निवेदित करना।

(२) **प्रतिक्रमण**—अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये जो भूलें होती हैं उनके लिए "मिच्छा में दुक्कडं होज्जा" अर्थात् मेरे दुष्कृत मिथ्या हों—यह कहकर अपने दोष से निवृत्त होना।[2]

(३)**तदुभय**—दोषों के निवारणार्थ आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों करना।

(४) **विवेक**—ग्रहण किये हुये भोजन-पान को सदोष ज्ञात होने पर त्याग कर देना।

(५) **व्युत्सर्ग**--गमनागमन करते समय, निद्रावस्था में सावद्य स्वप्न आने पर तथा नदी को नौका आदि से पार करने पर कायोत्सर्ग करना अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना।

(६) **तप**—प्रमाद के कारण किये गये अनाचार के सेवन पर गुरु द्वारा दिये गये तप प्रायश्चित्त को स्वीकार करना। इसका अधिकतम समय ६ मास का होता है।

(७) **छेद**—अनेक व्रतों की विराधना करने वाले और बिना करण अपवाद मार्ग का सेवन करने वाले भिक्षु या भिक्षुणी की दीक्षा-काल कम करना अर्थात् वरीयता कम करना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) **मूल**—जान बूझकर किसी पंचेन्द्रिय प्राणी का घात करने पर तथा मृषावाद का सेवन करने पर पूर्व की दीक्षा का समूल छेदन करना मूल प्रायश्चित्त है। ऐसे भिक्षु या भिक्षुणी को पुनः नवीन दीक्षा लेनी पड़ती है।

(९) **अनवस्थाप्य**—ऐसे घोर पाप करने पर जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो, उसे गृहस्थ.वेश धारण कराकर पुनः नवीन दीक्षा देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

---

१. "तं दसविहमालोयण पडिकमणोभयविवेगवोसग्गा
तवछेदमूलअणवट्ठया य पारंचियं चेव"

—जीतकल्पसूत्र, ४, भाष्य ७१८-३०.

२. द्रष्टव्य–इसी ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय।

(१०) **परांजिक**—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी जिसकी शुद्धि सम्भव न हो ऐसे घोरतम पाप करने वाले को कम से कम एक वर्ष तक तथा अधिक से अधिक १२ वर्ष तक गृहस्थ वेश धारण कराकर श्रमण के सभी व्रतों का पालन कराने के पश्चात् जो नवीन दीक्षा दी जाती है, उसे पारांजिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में यहाँ द्रष्टव्य है कि भिक्षुणियों के लिए परिहार तप का विधान नहीं किया गया है। व्यवहार सूत्र में भिक्षुणियों के अपराध करने पर छेद या परिहार की व्यवस्था की गयी है। इससे विदित होता है कि प्रारम्भ में भिक्षुणियों को परिहार का दण्ड भी दिया जा सकता था। परिहार प्रायश्चित्त के लिए अपराधी को गच्छ से दूर रहना पड़ता था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य की सुरक्षा की दृष्टि से बाद में भिक्षुणियों को यह दण्ड देना निषिद्ध हो गया।[1]

दिगम्बर भिक्षुणियों की दण्ड-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अलग से उल्लेख प्राप्त नहीं होता। दिगम्बर भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समान ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया था।[2]

जैन दण्ड-व्यवस्था में एक ही अपराध करने पर पद की स्थिति के अनुसार प्रायश्चित्त की गुरुता कम-अधिक की जाती थी। भिक्षुणियों को नदी-तालाब आदि के किनारें ठहरने तथा वहाँ स्वाध्याय आदि करने का निषेध था। इसका अतिक्रमण करने पर स्थविरा को षड्लघु, भिक्षुणी को षड्गुरु, गणिनी तथा अभिषेका को छेद तथा प्रवर्त्तिनी को मूल प्रायश्चित्त का विधान था।[3] स्पष्ट है, उच्चपद के अनुसार प्रायश्चित्त भी कठोर

---

१. "निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो न भवति"--बृहत्कल्पभाष्य, भाग षष्ठ, ५९१९ —टीका.

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग तृतीय, पृ० १५८-१६२.

३. असम्पातिमे यथालन्दमदृष्टा क्षुल्लिका तिष्ठति लघुपंचकम्, दृष्टा तिष्ठति गुरुपंचकम्, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति गुरुपंचकम्, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, अधिकं पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, दृष्टायां गुरुदशकम्। सम्पातिमे यथालन्दमदृष्टा तिष्ठति गुरुपंचकम्, दृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, पौरुषीमदृष्टा तिष्ठति लघुदशकम्, दृष्टायां गुरुदशकम्, समधिकां पौरुषीमदृष्टायां तिष्ठन्त्यां गुरुदशकम्, दृष्टायां लघुपंचदशकम्। एवमूर्द्धवस्थानमाश्रित्योक्तम्। निषीदन्त्यास्तु गुरुपंचरात्रिन्दिवेभ्यः प्रारब्धं गुरुपंचदशरात्रिन्दिवेषु, त्वग्वर्त्तनं कुर्वत्या लघुदशरात्रिन्दिवादारब्धं लघुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, एवं

होता जाता था। ऐसे नियमों का प्रतिपादन सम्भवतः इसलिए किया गया प्रतीत होता है ताकि उच्चपदस्थ भिक्षुणियाँ अन्य भिक्षुणियों के लिए एक आदर्श उपस्थित करें।

इसी प्रकार एक ही नियम का अतिक्रमण बार-बार करने पर प्रायश्चित्त भी क्रमशः गुरुतर होता जाता था। उदाहरणस्वरूप—जैन भिक्षु या भिक्षुणी को दिन में एक बार भिक्षा-गवेषणा करने का विधान था। यदि भिक्षु या भिक्षुणी एक से अधिक वार भिक्षा-गवेषणा के लिए जायें तो उसके लिए क्रमशः गुरुतर दण्ड की व्यवस्था थी।[1]

दिन में दो बार जाने पर —मासलघु
दिन में तीन बार जाने पर —मासगुरु
दिन में चार बार जाने पर —चतुर्लघु
दिन में पाँच बार जाने पर —चतुर्गुरु
दिन में छः बार जाने पर —षड्लघु
दिन में सात बार जाने पर —षड्गुरु
दिन में आठ लार जाने पर —छेद
दिन में नौ बार जाने पर —मूल
दिन में दस बार जाने पर —अनवस्थाप्य
दिन में ग्यारह बार जाने पर —पारांजिक

बौद्ध संघ में दण्ड-प्रक्रिया

बौद्ध संघ के नियमों के पालन में शिथिलता या अवहेलना करने पर भिक्षु-भिक्षुणियाँ दण्ड के भागी होते थे। यद्यपि बुद्ध ने आनन्द से छोटी-

निद्रायमाणाया गुरुविंशतिरात्रिन्दिवेषु, प्रचलायमानाया लघुपंचविंशतिरात्रिन्दिवेषु, अशनाद्याहारमाहरन्त्या गुरुपंचविंशतिरात्रिन्दिवेषु, उच्चारप्रश्रवणे आचरन्त्या लघुमासे, स्वाध्यायं विदधानाया मासगुरुके, धर्मजागरिकया जाग्रत्याश्चतुर्लघुके, कायोत्सर्गं कुर्वत्याश्चतुर्गुरुके तिष्ठति। एवं क्षुल्लिकायाः प्रायश्चित्तमुक्तम्। शेषाणां तु स्थविरादीनामेकैकं स्थानमुपरि वर्द्धते अधस्ताच्चैकैकं स्थानं हीयते। तद्यथा—स्थविराया गुरुपंचकादारब्धं षड्लघुकं यावद्, भिक्षुण्या लघुदशकादारब्धं षड्गुरुकान्तम्, अभिषेकाया गुरुदशकादारब्धं छेदपर्यन्तम्, प्रवर्त्तिन्या लघुपंचदशकादारब्धं मूलान्तमवसातव्यम्॥

—बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २४०९—टीका।

१. वही, भाग तृतीय, १६९७-१७००.—टीका।

छोटी गलतियों को क्षमा कर देने की सलाह दी थी, परन्तु दुर्भाग्यवश आनन्द उन गलतियों को पूछना भूल गये। अतः बुद्ध की मृत्यु के बाद प्रथम बौद्ध संगीति में इस जनापवाद के भय से कि लोग यह न कह सकें कि शास्ता बुद्ध के मरते ही संघ विच्छिन्न हो गया; धर्म एवं संघ की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए संघ-नियमों का कठोरता से पालन करने का वचन लिया गया।[1] दण्ड के भय से भिक्षु-भिक्षुणी बुरे कर्मों को करने से अपने को विरत रखेंगे—यही भावना इसके मूल में थी।

दण्ड के प्रकार : बौद्ध संघ में दण्ड के दो प्रकार थे :—

(१) कठोर दण्ड,

(२) नरम दण्ड।

(१) **कठोर दण्ड** : इसमें पाराजिक एवं संघादिसेस नामक दण्ड आते थे। इसे दुट्ठुलापत्ति, गरुकापत्ति[2], अदेसनागामिनी आपत्ति[3], थुल्लवज्जा आपत्ति[4], अनवसेसापत्ति[5] आदि नामों से जाना जाता था।

(२) **नरम दण्ड** : इस वर्गीकरण में प्रथम की अपेक्षा कुछ नरम दण्ड की व्यवस्था थी। पाराजिक एवं संघादिसेस को छोड़कर सभी दण्ड इसके अन्तर्गत् आते थे। इसे अदुट्ठुल्लापत्ति, लहुकापत्ति, अथुल्लवज्जा आपत्ति[6], सावसेसापत्ति, देसनागामिनो आपत्ति आदि नामों से जाना जाता था।

जिन अपराधों (दोषों) के कारण भिक्षु-भिक्षुणियों को दण्ड दिया जाता था, उन्हें आपत्ति के नाम से जाना जाता था। शिक्षापदों तथा विभंग के नियमों की अवहेलना या उनका अतिक्रमण ही आपत्ति मानी जाती थी[7]।

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ४०६.
२. वही, पृ० १७०, १७८, १८६.
३. परिवार पालि, पृ० २११.
४. "थुल्लवज्जा ति थूल्लदोसे पञ्ञत्ता गरुकापत्ति"
—वही, पृ०, २१२; समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० २४२०.
५. "एको पाराजिकापत्तिक्खन्धो अनवसेसापत्ति नाम"
—वही, भाग तृतीय, पृ० १३६८.
६. "अथुल्लवज्जा ति लहुकापत्ति"—वही, भाग तृतीय, पृ० १४२०.
७. "सिक्खापदे च विभङ्गे च वुत्ता आपत्ति जानतब्बा"
—वही, भाग तृतीय, पृ० १४१९.

भिक्खुनी पातिमोक्ख के अनुसार पाँच प्रकार की आपत्तियाँ (दोष) हैं :—

१-पाराजिक, २-संघादिसेस, ३-निस्सग्गिय पाचित्तिय, ४-पाचित्तिय, ५-पाटिदेसनीय। पर इसके अतिरिक्त भी तीन अन्य आपत्तियों का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है :—

(१) थुल्लच्चय, (२) दुक्कट, (३) दुब्भासित।

पाराजिक : यह सबसे कठोर अपराध था। पाराजिक के दोषी को संघ से सर्वदा के लिए निकाल दिया जाता था तथा पुनः प्रवेश नहीं दिया जाता था। संक्षेप में, ऐसे दोषी भिक्षु-भिक्षुणी संन्यास-जीवन के अयोग्य माने जाते थे। ऐसा दोषी सत्यपथ से पराजित व्यक्ति समझा जाता था।[१] वह अपने सद्धर्म के मार्ग से च्युत हो जाता था।[२] पाराजिक अपराधी की तुलना ऐसे व्यक्ति से की गयी है जिसका सिर काट दिया गया हो, ऐसे मुरझाये पत्ते से की गयी है जो वृक्ष से गिर गया हो, ऐसे पत्थर से की गयी है जो दो भागों में बँट गया हो।[3] महासांघिकों के विनय में भी पाराजिक कठोरतम अपराध था। पाराजिक का अपराधी धर्मज्ञान से च्युत माना जाता था।[४]

भिक्षुणियों के लिए निर्धारित आठ पाराजिक निम्न हैं :—

भिक्खुनी पाराजिक (थेरवादी)	भिक्षुणी पाराजिक (महासांघिक)	विषय
१	१	जो भिक्षुणी मैथुन करे।
२	२	जो भिक्षुणी चोरी करे।
३	३	जो भिक्षुणी मनुष्य की हत्या करे, शस्त्र खोजे तथा मृत्यु की प्रशंसा करे।
४	४	जो भिक्षुणी दिव्य शक्ति (उत्तरिमनुस्स धम्मं) न होने पर भी उसका दावा करे।

---

१. समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १४५७.

२. "सद्धम्मा चुतो, परद्धो भट्ठो निरङ्कतो च होति".

—वही, भाग तृतीय, १४५७.

३. पाचित्तिय पालि, पृ० २८७, २९१.

४. "पाराजिकेति पारं नामोच्यते धर्मज्ञानम्। ततोजीना ओजीना संजीना परिहीणा तेनाह पाराजिकेति".

—भिक्षुणी विनय, §१२३.

५	५	जो भिक्षुणी कामासक्त होकर (अवस्सुता) कामुक पुरुष के जानु भाग के ऊपर के निचले भाग (अधकक्खं उब्भजानुमण्डलं) का स्पर्श करे, घर्षण करे।
६	७	पाराजिक दोष वाली भिक्षुणी को जानते हुए भी जो भिक्षुणी न स्वयं टोके और न गण को ही सूचित करे।
७	८	जो भिक्षुणी समग्र संघ द्वारा निकाले गये धर्म, विनय और बुद्धोपदेश में श्रद्धारहित भिक्षु का अनुगमन करे तथा भिक्षुणियों के द्वारा तीन बार मना करने पर भी न माने।
८	६	जो भिक्षुणी आसक्त होकर कामुक पुरुष का हाथ पकड़े या उसके संकेत के अनुसार जाये।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पाराजिक का सबसे प्रथम एवं गम्भीरतम अपराध मैथुन था। मैथुन चूंकि बिना राग-भाव के नहीं हो सकता था, अतः यह ब्रह्मचर्य के मार्ग में सबसे प्रमुख अवरोध था जिसके निवारणार्थ संघ अत्यन्त सतर्क था। चोरी, मनुष्य-हत्या, दिव्यशक्ति का दावा, निष्कासित भिक्षु का अनुगमन करना तथा पाराजिक अपराधिनी भिक्षुणी को जानते हुए भी सूचित न करना—पाराजिक के अन्य अपराध थे।

संघादिसेस—यह पाराजिक के बाद दूसरा सबसे गम्भीर अपराध था। प्रायश्चित्त की गुरुता के दृष्टिकोण से यह पाराजिक की ही श्रेणी में आता था। भिक्षुणियों के लिए निर्धारित संघादिसेस निम्न हैं :—

भिक्खुनी संघादिसेस (थेरवादी)	**भिक्षुणी संघातिशेष (महासांघिक)**	**विषय**
१	४	जो भिक्षुणी घूमन्त (उस्सयवादिका) होकर गृहस्थ, गृहस्थ-पुत्र अथवा श्रमण-परिव्राजकों के साथ घूमे।
२	७+८	जो भिक्षुणी जानबूझकर चोरी करने वाली को, राजा, संघ, गण को सूचित किये बिना तथा अन्य मत के भिक्षुणी-पद को छोड़ कर आयी हुई स्त्री को भिक्षुणी बनाये।

३	५+६+९	जो भिक्षुणी अकेले ग्रामान्तर को जाये, अकेली नदी पार करे, अकेली रात में प्रवास करे।
४	१०	जो भिक्षुणी समग्र संघ द्वारा धर्म, विनय और बुद्धोपदेश से अलग की गयी भिक्षुणी को गण की अनुमति के बिना अपनी सह-योगिनी बनावे।
५	११	जो भिक्षुणी आसक्त होकर कामुक पुरुष के हाथ से खाद्य-पदार्थ ग्रहण करे।
६	१२	जो भिक्षुणी अन्य भिक्षुणी को कामुक पुरुष के हाथ से खाद्य-पदार्थ ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित करे।
७	१	जो भिक्षुणी किसी स्त्री के संदेश को पुरुष से तथा पुरुष के संदेश को स्त्री से कहे यथा—तुम जार (उप-पति) बन जाओ, पत्नी बन जाओ, आदि।
८	२	जो भिक्षुणी दूषित चित्त से दूसरी भिक्षुणी पर निर्मूल पाराजिक का दोषारोपण करे, जिससे वह ब्रह्मचर्य से च्युत मानी जाये, परन्तु बाद में वह दोष निराधार साबित हो।
१०	१९	जो भिक्षुणी बुद्ध, धर्म तथा संघ का प्रत्याख्यान करे तथा तीन बार मना करने पर भी न माने।
११	१५	जो भिक्षुणी किसी अभियोग के सिद्ध हो जाने पर भिक्षुणियों तथा भिक्षुणी-संघ की निन्दा करे तथा तीन बार मना करने पर भी न माने।
१२	१७	जो भिक्षुणी प्रतिकूल आचरण करे, भिक्षुणी-संघ का उपहास करे, एक दूसरे के अपराधों का गोपन करे तथा तीन बार मना करने पर भी न माने।
१३	१८	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणियों को पापाचार के लिए प्रोत्साहित करे।

१४	१३	जो भिक्षुणी संघ में भेद डालने का प्रयत्न करे तथा तीन बार मना करने पर भी न माने।
१५	१४	जो भिक्षुणी संघ-भेदक भिक्षुणी का समर्थन या अनुमोदन करे तथा तीन बार मना करने पर भी न माने।
१६	१६	जो भिक्षुणी दुर्वचनभाषी (दुब्बचजातिका) हो तथा किसी प्रकार की शिक्षाप्रद बातों को न सुने।
१७	×	जो भिक्षुणी दुराचारी होकर कुलों को दूषित करे और अन्य भिक्षुणियों द्वारा वहाँ रहने के लिए निषेध किए जाने पर भी न माने।

हम देखते हैं कि थेरवादी भिक्षुणियों के १७ संघादिसेस तथा महासांघिक भिक्षुणियों के १९ संघातिशेष थे। थेरवादी निकाय का १७वां संघादिसेस महासांघिक निकाय में नहीं प्राप्त होता। थेरवादी भिक्खुनी संघादिसेस का दूसरा नियम कुछ शब्द परिवर्तन के साथ महासांघिक के ७वें तथा ८वें नियम में प्राप्त होता है। इसी प्रकार थेरवादी संघादिसेस का तीसरा नियम महासांघिक के ५वें, ६वें तथा ९वें संघातिशेष में प्राप्त होता है।

थेरवादी भिक्षुणियों के १७ संघादिसेस में ९ प्रथम आपत्ति (पठमापत्तिकं) तथा ८ यावततियं (तीन बार वाचना करने पर प्रभावी) से प्रभावी होने वाले हैं। थेरवादी संघादिसेस का छठा संघादिसेस प्रथम आपत्ति के वर्ग में आता है, परन्तु यही नियम महासांघिकों के "यावततृतीयक" वर्ग में आता है।

इसके अतिरिक्त, दोनों निकायों के संघादिसेस (संघातिशेष) के सम्बन्ध में एक अन्य अन्तर द्रष्टव्य है।

थेरवादी विनय में इसे 'संघादिसेस' कहा गया है। इस दण्ड को पूरा संघ मिलकर ही दे सकता था तथा वही इसका निराकरण भी कर सकता

था, इसीलिए इसे 'संघादिसेस' कहा जाता था।[१] बहुत सी भिक्षुणियाँ या एक भिक्षुणी न तो यह दण्ड दे सकती थी और न इसका निराकरण कर सकती थी।[२]

महासांघिकों के विनय में इसे 'संघातिशेष' कहा गया है।[३] इसे 'उपादिशेष' भी कहा जाता था, क्योंकि इस निकाय में यह पाराजिक के शेष के रूप में जाना जाता था। यहाँ 'संघ' का अर्थ भिक्षु अथवा भिक्षुणियों के संघ से नहीं है, अपितु 'नियमों के समूह' से है।[४] महासाधिकों का 'संघातिशेष' थेरवादियों के 'संघादिसेस' का संस्कृतीकरण प्रतीत होता है।

संघादिसेस की अपराधिनी भिक्षुणी को मानत्त का दण्ड दिया जाता था।[५]

मानत्त—भिक्षुणी के लिए मानत्त नामक यह दण्ड १५ दिन का होता था। मानत्त दण्ड का प्रायश्चित्त कर रही भिक्षुणी की सहायता के लिए एक अन्य भिक्षुणी देने का विधान था, जिससे वह अपना मानत्त-

---

१. 'आदिम्हि चेव सेसे च इच्छितब्बो अस्साति संघादिसेसो'
—समन्तपासादिका, भाग प्रथम, पृ० ५१८; भाग तृतीय, पृ० १४५८.

२. 'न सम्बहुला न एका भिक्खुनी न एक पुग्गलो'—पाचित्तिय पालि, पृ० ३२८.

३. 'संघातिशेषोउपादिशेषो'—भिक्षुणी विनय, §१३८.

४. 'संघो ता नाम उच्चन्ति अष्ट पाराजिका धर्मा'—वही, §१४०.
'Group of offences (Samgh) which is the supplement (Sesa) to the first group (upa + adi) the group of the Parajika offences. Samgh obviously does not mean here the union or the order of Monkes and Nuns, but 'group of disciplinary offences'.
—translated by Gustav Roth.
Bhiksuni Vinay, p. 103.

५. 'संघादिसेसो ति सङ्घो वा तस्सा आपत्तिया मानत्तं देति'
—पाचित्तिय पालि, पृ० ३००, पृ० ३२८.

प्रायश्चित्त समुचित रूप से कर सके।[1] मानत्त के लिए भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष उपस्थित होने का विधान था।

मानत्त-प्रायश्चित्त कर रहे भिक्षु के सन्दर्भ में विस्तृत नियमों का उल्लेख प्राप्त होता है। संघादिसेस अपराध करने पर भिक्षु यदि संघ को तुरन्त सूचित करता था तो उसे ६ रात का मानत्त-दण्ड दिया जाता था, परन्तु अपराध छिपाने पर उसके लिए परिवास के दण्ड का विधान था। जितने दिन तक वह अपराध को छिपाता था, उतने दिन तक उसे परिवास-दण्ड देने का विधान था। परिवास के पश्चात् उसे पुनः ६ रात का मानत्त-प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[2] ऐसे अपराधी भिक्षु को संघ से बाहर रहने का विधान था तथा प्रायश्चित्त काल तक उसे अन्य अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था।

परिवास-दण्ड का प्रायश्चित्त कर रहे भिक्षु (पारिवासिक भिक्षु) को कुछ निषेधों का पालन करना पड़ता था--यथा वह उपसम्पदा तथा निश्रय नहीं प्रदान कर सकता था, भिक्षुणियों को उपदेश नहीं दे सकता था, संघ के अन्य भिक्षुओं के साथ नहीं रह सकता था, उपोसथ तथा प्रवारणा को स्थगित नहीं कर सकता था और न तो किसी के ऊपर दोष लगा सकता था और न किसी दण्ड का निर्णय कर सकता था--आदि।[3]

सम्भवतः उपर्युक्त निषेधों का पालन मानत्तचारिणी भिक्षुणी भी करती रही होगी। भिक्षुणी को परिवास का दण्ड नहीं दिया जाता था। उसे १५ दिन का मानत्त प्रायश्चित्त ही करना पड़ता था। परन्तु तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के अशोक के अभिलेखों में संघ-भेद करने पर भिक्षु-भिक्षुणी दोनों को अनावास स्थान में भेज देने का उल्लेख है।[4] बुद्धघोष के अनुसार अनावास-स्थान निम्न थे[5]—चेतियघर (श्मशान-स्थल),

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ४००.
२. वही, पृ० ८६-९०.
३. वही, पृ० ६७-८१.
४. 'ए चुं खो भिखु वा भिखुनि वा संघं भाखति से ओदातानि दुसानि संनंधापयिया अनावाससि आवासयिये'
—Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I. P. 161.
५. समन्तपासादिका, भाग.तृतीय, पृ० १२४४.

बोधिघर (बोधिगृह), सम्मज्जनी-अट्टक (स्नान-गृह), दारुअट्टक (लकड़ी बनाने का स्थान), पानीयमाल (छज्जा), वच्छकुटी (शौचालय) तथा[1] द्वारकोट्टक (द्वारकोष्ठक)।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में भिक्षुणियों के लिए भी परिवास-दण्ड का विधान रहा होगा जैसाकि अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट होता है। परन्तु कालान्तर में भिक्षुणियों को शील-सुरक्षार्थ संघ से बाहर अनावासस्थान में भेजना निषिद्ध हो गया।

थुल्लच्चय--यह लहुकापत्ति (लघु-आपत्ति) दण्डों में सबसे कठोर दण्ड था तथा अपराध की गुरुता के दृष्टिकोण से इसका क्रम पाराजिक तथा संघादिसेस के बाद ही पड़ता था। स्थूल (थुल्ल) शब्द का अर्थ ही गम्भीर होता है। इस वर्गीकरण में इसके समान अन्य कोई गम्भीर अपराध नहीं था।[1] यद्यपि भिक्खु तथा भिक्खुनी पातिमोक्ख में इस दण्ड का उल्लेख नहीं है, परन्तु जो आत्महत्या का प्रयत्न करता था, संघ की शान्ति एवं मर्यादा को भंग करने की कोशिश करता था, कोई ऐसी वस्तु चुराता था जिसका मूल्य एक मासक से ज्यादा परन्तु ५ मासक से कम हो, तो वह थुल्लच्चय का अपराधी माना जाता था।[2] इसी प्रकार भिक्षुणी यदि अणिचोल (ऋतु सम्बन्धी) नामक वस्त्र को इस प्रकार बाँधती थी जिससे उनमें कामासक्ति की भावना उत्पन्न हो, तो उन्हें थुल्लच्चय का दण्ड दिया जाता था।[3] यद्यपि यह एक गम्भीर अपराध था, परन्तु किसी योग्य भिक्षु-भिक्षुणी के सम्मुख अपने अपराधों का प्रायश्चित्त करने से इसका निराकरण सम्भव था।

पाचित्तिय--यह संस्कृत शब्द प्रायश्चित्त का ही पाली रूपान्तरण है। अपने अपराधों को संघ या पुग्गल (व्यक्ति) के सम्मुख स्वीकार करने पर इसका निराकरण हो जाता था तथापि ऐसा आचरण धर्म से पतित होने वाला तथा आर्यमार्ग का अतिक्रमण करने वाला माना जाता था।

---

१. 'एकस्स मूले यो देसेति, यो च तं पाटिगण्हति अच्चयोतेन समो नत्थि'

—परिवार पालि, पृ० ३६३.

२. पाराजिक पालि, पृ० ६६.

३. भिक्षुणी विनय, §२६८.

भिक्षुणियों के पाचित्तिय अपराध निम्न हैं—

भिक्खुनी पाचित्तिय (थेरवादी) (१)	भिक्षुणी पाचत्तिक (महासांघिक) (२)	विषय (३)
१	८०	जो भिक्षुणी लहसुन खाये।
२	×	जो भिक्षुणी गुह्य-स्थान (संबाधे) के रोम को बनाये।
३	×	जो भिक्षुणी तलघातक (योनि पर थपक दे) करे।
४	×	जो भिक्षुणी जतुमट्ठक (मैथुन-साधन) का प्रयोग करे।
५	×	जो भिक्षुणी जल से अपनी योनि को अधिक गहराई तक धोये।
६	७९	भोजन करते समय भिक्षु की जल या पंखे से सेवा करे।
७	७८	जो भिक्षुणी कच्चे अनाज (आमकधञ्ञं) को खाये।
८	१३८	जो भिक्षुणी पेसाब या पाखाने को दीवार के पीछे फेंके।
९	१३९, १४०	जो भिक्षुणी पेशाब या पाखाने को हरियाली पर फेंके।
१०	१२४	जो भिक्षुणी नृत्य देखे एवं गीत या वाद्य सुने।
११	१२३	जो भिक्षुणी रात्रि के अन्धकार में पुरुष से अकेले बात करे।
१२	१२१	जो भिक्षुणी एकान्त में पुरुष से अकेले बात करें।
१३	१२०	जो भिक्षुणी चौड़े रास्ते (अज्झोकासे) में पुरुष से अकेले बात करे।
१४	१२२	जो भिक्षुणी सड़क (रथियाय वा व्यूहे वा सिंघाटके वा) पर पुरुष से अकेले बात करे।

१५	×	जो भिक्षुणी भोजन काल के पूर्व ही गृहस्थों के घरों में बैठे।
१६	×	जो भिक्षुणी भोजनकाल के पश्चात् गृहस्थों के घरों में बैठे।
१७	×	जो भिक्षुणी विकाल (मध्याह्न के बाद) गृहस्थों के घरों में बैठे।
१८	८९	जो भिक्षुणी अन्यथा ग्रहणकर (दुग्गहितेन), अन्यथा धारण कर (दुप्पधारितेन) दूसरी भिक्षुणी को उकसावे।
१९	८७	जो भिक्षुणी अपने या दूसरे को शाप दे।
२०	८८	जो भिक्षुणी स्वयं को पीट-पीट कर रोये।
२१	×	जो भिक्षुणी निर्वस्त्र होकर स्नान करे।
२२	७५	जो भिक्षुणी उदकशाटिका वस्त्र उचित नाप का न बनवाये।
२३	×	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी के चीवर को कोई कार्य न रहने पर भी न सिले, न सिलवाये।
२४	×	जो भिक्षुणी पाँचवे दिन अवश्य संघाटी धारण करने के नियम का अतिक्रमण करे।
२५	७१	जो भिक्षुणी बिना पूछे दूसरे के चीवर को धारण करे।
२६	×	जो भिक्षुणी गण की चीवर-प्राप्ति में विघ्न डाले।
२७	×	जो भिक्षुणी नियमानुसार चीवर बँटवाने में बाधा डाले।
२७	७२	जो भिक्षुणी चीवर को परिव्राजक या परिव्राजिका को दे।
२९	७६	जो भिक्षुणी चीवर प्राप्ति की आशा कम होने से (दुब्बलचीवरपच्चासाय) चीवर काल की अवधि (आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) का अतिक्रमण करे।

३०	×	जो भिक्षुणी कठिन या चीवर के बाँटने में बाधा डाले।
३१	×	यदि दो भिक्षुणियाँ एक चारपाई पर लेटें।
३२	११४	यदि दो भिक्षुणियाँ एक ही ओढ़ने में लेटें।
३३	१३७	जो भिक्षुणी जानबूझकर दूसरी भिक्षुणी को तंग करे।
३४	×	जो भिक्षुणी रोगी शिष्या (सहजीवनी) की सेवा न करे।
३५	१३६	जो भिक्षुणी किसी भिक्षुणी को उपाश्रय में स्थान देकर बाद में निकाल दे।
३६	८६	जो भिक्षुणी गृहस्थ के साथ सम्पर्क रखे।
३७	११८	जो भिक्षुणी अशान्तिपूर्ण स्वदेश में अकेले विचरण करे।
३८	×	जो भिक्षुणी अशान्तिपूर्ण बाह्यदेश में अकेले विचरण करे।
३९	१३४	जो भिक्षुणी वर्षाकाल में विचरण करे।
४०	१३५	जो भिक्षुणी वर्षावास के पश्चात् ५-६ योजन तक न भ्रमण करे।
४१	११९	जो भिक्षुणी राज-प्रासाद या चित्रशाला आदि देखने जाये।
४२	×	जो भिक्षुणी पलंग (पल्लंकं) का उपयोग करे।
४३	×	जो भिक्षुणी सूत काते।
४४	८४	जो भिक्षुणी गृहणियों के जैसा काम करे।
४५	१२५	जो भिक्षुणी विवाद को शान्त कराने का आश्वासन देकर बाद में शान्त न करावे।
४६	८१, ४२	जो भिक्षुणी गृहस्थ या परिव्राजक को अपने हाथ से भोजन दे।
४७	×	जो भिक्षुणी आवसथचीवर को न धोये।
४८	११५	जो भिक्षुणी आवसथचीवर को धोये बिना भ्रमण के लिए जाये।
४९	×	जो भिक्षुणी मिथ्या विद्या (तिरच्छानविज्जा) को सीखे।

५०	×	जो भिक्षुणी मिथ्या विद्या (तिरच्छान-विज्जा) को पढ़ाये ।
५१	११६	जो भिक्षुणी बिना अनुमति के भिक्षु के आराम में प्रवेश करे ।
५२	९१	जो भिक्षुणी भिक्षु को दुर्वचन कहे ।
५३	×	जो भिक्षुणी क्रुद्ध हो गण की निन्दा करे ।
५४	×	जो भिक्षुणी तृप्त हो जाने पर भी भोजन ग्रहण करे ।
५५	९०	जो भिक्षुणी गृहस्थ-कुल से ईर्ष्या करे ।
५६	×	जो भिक्षुणी भिक्षु-रहित स्थान में वर्षावास करे ।
५७	×	जो भिक्षुणी दोनो संघों के समक्ष प्रवारणा न करे ।
५८	१३१	जो भिक्षुणी उपदेश अथवा उपोसथ के लिए न जाये ।
५९	१३२	जो भिक्षुणी प्रति पन्द्रहवें दिन भिक्षु-संघ के पास उपोसथ पूछने तथा उवाद सुनने न जाये ।
६०	१३३	जो भिक्षुणी गुह्य-स्थान के फोड़े को बिना संघ या गण की अनुमति के अकेले षुरुष से अकेले धुलवाये या लेप कराये ।
६१	×	जो भिक्षुणी गर्भिणी को भिक्षुणी बनाये ।
६२	×	जो भिक्षुणी दूध पिलाने वाली माता को भिक्षुणी बनाये ।
६३	९८	जो भिक्षुणी षड्धर्मों का दो वर्ष तक पालन किये बिना शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये ।
६४	९९	जो भिक्षुणी शिक्षमाणा को संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणी बनाये ।
६५	१००	जो भिक्षुणी १२ वर्ष से कम की विवाहिता को भिक्षुणी बनाये ।
६६	१०१	जो भिक्षुणी १२ वर्ष की विवाहिता को दो वर्ष तक षड्धर्मों की शिक्षा दिये बिना भिक्षुणी बनाये ।

६७	१०३	जो भिक्षुणी १२ वर्ष की विवाहिता को दो वर्ष तक षड्धर्मों की शिक्षा देकर संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणी बनाये।
६८	१०४	जो भिक्षुणी शिष्या को उपसम्पदा देकर दो वर्ष तक सहायता न करे।
६९	१०५	जो भिक्षुणी उपसम्पदा प्राप्त भिक्षुणी को दो वर्ष तक साथ न रखे।
७०	१०८	जो भिक्षुणी शिष्या को भिक्षुणी बनाकर ५-६ योजन भ्रमण न कराये।
७१	९६	जो भिक्षुणी २० वर्ष से कम की कुमारी को भिक्षुणी बनाये।
७२	९७	जो भिक्षुणी २० वर्ष की कुमारी को दो वर्ष तक षड्धर्मों की शिक्षा दिये बिना भिक्षुणी बनाये।
७३	×	जो भिक्षुणी २० वर्ष की कुमारी को दो वर्ष तक षड्धर्मों की शिक्षा देने के पश्चात् संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणी बनाये।
७४	९२, ९३	१२ वर्ष से कम उपसम्पन्न भिक्षुणी यदि किसी को भिक्षुणी बनाये।
७५	९४	१२ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी संघ की सम्मति के बिना किसी को भिक्षुणी बनाये।
७६	१०९	जो भिक्षुणी "आर्ये! इसे भिक्षुणी मत बनाओ" कहे जाने पर इसे स्वीकार कर पीछे क्रोधित हो।
७७	×	जो भिक्षुणी शिक्षमाणा को चीवर की प्रत्याशा से भिक्षुणी बनाये।
७८	११०	जो भिक्षुणी शिक्षमाणा को उपसम्पदा देने का आश्वासन देकर फिर उपसम्पदा न दे।
७९	९५	जो भिक्षुणी क्रोधी, दुःखदायी शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये।
८०	×	जो भिक्षुणी संरक्षक की आज्ञा के बिना ही शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये।

८१	१०७	जो भिक्षुणी पारिवासिक छन्ददान से शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये ।
८२	१०६	जो भिक्षुणी प्रतिवर्ष भिक्षुणी बनाये ।
८३	×	जो भिक्षुणी वर्ष में दो भिक्षुणी बनाये ।
८४	११२	जो भिक्षुणी निरोग होते हुये छाते को धारण करे ।
८५	१११	जो भिक्षुणी निरोग होते हुए सवारी से जाये ।
८६	×	जो भिक्षुणी संघाणी (माला) को धारण करे ।
८७	×	जो भिक्षुणी स्त्रियों के आभूषण को धारण करे ।
८८	×	जो भिक्षुणी सुगन्धित चूर्ण (गन्धवण्णकेन) से नहाये ।
८९	×	जो भिक्षुणी तिल की खली वाले जल में (वासितकेन पिञ्ञाकेन) नहाये ।
९०	१२७	जो भिक्षुणी अन्य भिक्षुणी से अपने शरीर को मलवाये ।
९१ से ९३	१२८ से १३०	जो भिक्षुणी शिक्षमाणा, श्रामणेरी अथवा गृहिणी से शरीर मलवाये ।
९४	×	जो भिक्षुणी भिक्षु के सामने बिना पूछे आसन पर बैठे ।
९५	×	जो भिक्षुणी अवकाश माँगे बिना प्रश्न पूछे ।
९३	७४	जो भिक्षुणी बिना कंचुक के गाँव में प्रवेश करे ।
९७	१	जो भिक्षुणी जानबूझकर झूठ बोले ।
९८	२	जो भिक्षुणी वचन मारे (ओमसवाद) ।
९९	३	जो भिक्षुणी चुगली (पेसुञ्ञ) करे ।
१००	६	जो भिक्षुणी व्यतिक्रम से धर्म का उपदेश करे ।
१०१	३२	जो भिक्षुणी अन-उपसम्पन्ना के साथ दो-तीन रात से अधिक एक साथ सोये ।
१०२	×	जो भिक्षुणी पुरुष के साथ सोये ।
१०३	×	जो भिक्षुणी (विदुषी भिक्षुणी को छोड़-कर) पाँच-छः वचनों से अधिक धर्म का उपदेश करे ।

१०४	७	जो भिक्षुणी अन-उपसम्पन्ना को दिव्य-शक्ति के बारे में कहे।
१०५	८	जो भिक्षुणी दुट्ठुल्ल (कठोर) अपराध को अन-उपसम्पन्ना भिक्षुणी से कहे।
१०६	५३	जो भिक्षुणी जमीन खोदे।
१०७	११	जो भिक्षुणी तृण-वृक्ष (भूतगाम) को गिराये।
१०८	१२	जो भिक्षुणी संघ के पूछने पर परेशान करे।
१०९	१३	जो भिक्षुणी निन्दा एवं बदनामी करे।
११०	१४	जो भिक्षुणी मंच, पीठ, बिस्तर आदि को उचित स्थान पर न रखे।
१११	१५	जो भिक्षुणी आश्रम में बिछौने आदि को उचित स्थान पर न रखे।
११२	१७	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी का ख्याल किये बिना ही विहार में अपना आसन लगाये।
११३	१६	जो भिक्षुणी क्रोधित हो दूसरी भिक्षुणी को विहार से निकाले।
११४	१८	जो भिक्षुणी विहार में पैर धबधबाते हुए चारपाई पर लेटे।
११५	×	जो भिक्षुणी हरी वनस्पतियों आदि पर विहार बनवाये।
११६	१९	जो भिक्षुणी प्राणी-युक्त जल से पौधे या मिट्टी को सींचे।
११७	२१	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुए भी एक स्थान पर एक से अधिक बार भोजन करे।
११८	३०	अस्वस्थ होने पर, चीवर-दान के समय और यात्रा पर जाने के समय गण के साथ भोजन करने की अनुमति थी; जो भिक्षुणी इसका अतिक्रमण करे।
११९	२८	जो भिक्षुणी आहार को भिक्षा-पात्र की मेखला से अधिक ग्रहण करे।
१२०	२९	जो भिक्षुणी विकाल में भोजन करे।

१२१	२७	जो भिक्षुणी संचित (संनिधिकारकं) भोजन करे।
१२२	२५	जो भिक्षुणी बिना दिया हुआ आहार ग्रहण करे।
१२३	३४	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी को आश्वासन देकर भी साथ में भिक्षाटन के लिए न ले जाये।
१२४	४३	जो भिक्षुणी गृहस्थ के भोजन-गृह में जाकर बैठे।
१२५	४४	जो भिक्षुणी पुरुष के साथ एकान्त में आसन पर बैठे।
१२६	×	जो भिक्षुणी पुरुष के साथ अकेले गुप्त रूप से बैठे।
१२७	६१	जो भिक्षुणी निमन्त्रित होने पर सामने बैठी भिक्षुणी को साथ में न ले जाये।
१२८	५४	स्वस्थ भिक्षुणी को पुनः प्रवारणा तथा नित्य प्रवारणा (रोगी होने पर पथ्यादि का दान) के अतिरिक्त चातुर्मास के आहार आदि दान को ग्रहण करने का विधान था, जो भिक्षुणी इसका अतिक्रमण करे।
१२९	४५	जो भिक्षुणी बिना कार्य के सेना-प्रदर्शन को देखे।
१३०	४६	जो भिक्षुणी कार्य होने पर भी सेना में दो-तीन रात से अधिक रहे।
१३१	४७	जो भिक्षुणी वहाँ रहते हुए भी रण-क्षेत्र या सेना-व्यूह देखने जाये।
१३२	५६	जो भिक्षुणी मद्य-पान करे।
१३३	५१	जो भिक्षुणी उँगली से गुदगुदाये।
१३४	५०	जो भिक्षुणी जल में क्रीड़ा करे।
१३५	५७	जो भिक्षुणी किसी का अनादर करे।
१३६	४०	जो भिक्षुणी किसी भिक्षुणी को भयभीत करे।

१३७	३१	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुए भी आग तापे।
१३८	×	जो भिक्षुणी आधेमास (ओरेनद्धमासं) से पहले नहाये।
१३९	३८	जो भिक्षुणी नया चीवर पाने पर उसको बदरंग (दुब्बण्ण) न करे।
१४०	२३	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर या श्रामणेरी को चीवर प्रदान कर स्वयं उसका प्रयोग करे।
१४१	२९	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी के पात्र, चीवर या आसन को अन्यत्र रख दे।
१४२	५	जो भिक्षुणी जीव-हिंसा (पाणं जीविता वोरोपेय्य) करे।
१४३	४१	जो भिक्षुणी जीव-युक्त जल को पिये।
१४४	४	जो भिक्षुणी धर्मानुसार निर्णय हो जाने पर भी समस्या को पुनः उठाये।
१४५	५२	जो भिक्षुणी जानती हुई भी चोरों के साथ जाये।
१४६	३५	जो भिक्षुणी बुद्ध के उपदेशों में दोष बताये।
१४७	३६	जो भिक्षुणी मिथ्या धारणा वाली भिक्षुणी के साथ रहे या उसके साथ भोजन करे।
१४८	३७	जो भिक्षुणी मिथ्या धारणा वाली श्रामणेरी के साथ रहे या उसके साथ भोजन करे।
१४९	५५	जो भिक्षुणी धार्मिक बात कहने पर उसे अस्वीकार करे।
१५०	१०	जो भिक्षुणी पातिमोक्ख नियमों के विरुद्ध कथन करे।
१५१	६०	जो भिक्षुणी पातिमोक्ख नियमों को मन में अच्छी तरह धारण न करे।
१५२	४८	जो भिक्षुणी असन्तुष्ट हो दूसरी भिक्षुणी को पीटे।
१५३	४९	जो भिक्षुणी असन्तुष्ट हो दूसरी भिक्षुणी को धमकाये।

१५४	६९	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी पर निर्मूल संघादिसेस का आरोप लगाये।
१५५	२०	जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी को दिक् (अफासु) करे।
१५६	५८	जो भिक्षुणी कलहकारी भिक्षुणी के पास खड़ी होकर उसकी बात सुने।
१५७	३३	जो भिक्षुणी धार्मिक कार्यों के लिए अपनी सहमति देकर पीछे हट जाये।
१५८	५९	जो भिक्षुणी संघ के निर्णय के समय अपनी सहमति (छंदं) दिये बिना ही चली जाये।
१५९	९	जो भिक्षुणी संघ द्वारा चीवर प्रदान करने के समय विघ्न डाले।
१६०	७०	जो भिक्षुणी संघ के लिए प्राप्त वस्तु को अपने उपयोग में लाये।
१६१	३९	जो भिक्षुणी बहुमूल्य वस्तु (रतनं वा रतन-सम्मतं वा) को इधर से उधर हटाये।
१६२	६३	जो भिक्षुणी सूचीघर (सूई रखने की फोंपकी) को तोड़े।
१६३	६४, ११३	जो भिक्षुणी चारपाई (मंच) या तख्त (पीठ) को नाप (निचले पाद को छोड़ बुद्ध के अंगुल से आठ अंगुल) से अधिक का बनवाये।
१६४	६५	जो भिक्षुणी चारपाई या तख्त में रुई (तूलोनद्ध) भरवाये।
१६५	६७	जो भिक्षुणी कण्डुपटिच्छादन नामक वस्त्र को उचित नाप का न बनवाये।
१६६	६८	जो भिक्षुणी बुद्ध के चीवर के बराबर या उससे बड़ा चीवर बनवाये।

थेरवादी निकाय में भिक्षुणियों के १६६ पाचित्तिय धर्म (नियम) हैं। महासांघिक निकाय में यह संख्या १४१ है। यहाँ इसे "शुद्ध पाचत्तिक धर्म"[1] कहा गया है। अधिकांश पाचित्तिय नियम प्रायः दोनों में समान हैं। भिक्षुणी विनय का २२वाँ, २४वाँ, ६२वाँ तथा ११७वाँ पाचत्तिक नियम

१. भिक्षुणी विनय, §१८३.

थेरवादी भिक्खुनी पाचित्तिय में नहीं हैं। ये नियम थेरवादी भिक्खु पाचित्तिय में क्रमशः ३३वें,[1] ३६वें,[2] ८३वें,[3] ८९वें[4] तथा ४३वें[5] नियम में प्राप्त होते हैं।

भिक्षुणी विनय का ७३वाँ[6], ७७वाँ[7], ८२वाँ[8], ८३वाँ[9], ८५वाँ[10],

---

१. "परंपर भोजने अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं ॥ तत्रायं समयोगिलानसमयो, चीवरदानसमयो, चीवरकारसमयो-अयं तत्थ समयो ॥

—पातिमोक्ख, भिक्खु पाचित्तिय, ३३.

२. "यो न भिक्खु भिक्खुं भुत्ताविं पवारितं अनतिरित्तेन खादनियेन वा भोजनियेन वा अभिहट्ठुं पवारेय्य-हन्द भिक्खु खाद वा भुञ्ज वा "ति जानं आसादनापेक्खो, भुत्तस्मिं पाचित्तियं ॥"

—वही, ३६.

३. "यो पन भिक्खु रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धावसित्तस्स अनिक्खन्तराजके अनिग्गतरतनके पुब्बे अप्पटिसंविदितो इन्दखीलं अतिक्कमेय्य, पाचित्तियं ॥"

—वही, ८३.

४. "निसीदनं पन भिक्खुना कारयमानेन पमाणकं कारेतब्बं, तत्रिदं पमाणं—दीघसो द्वे विदत्थियो सुगतविदत्थिया। तिरियं दियड्ढं दसा विदत्थि, तं अतिक्कामयतो छेदनकं पाचित्तियं ॥"

—वही, ८९.

५. यो पन भिक्खु सभोजने कुले अनुपखज्ज निसज्जं कप्पेय्य, पाचित्तियं ॥

—वही, ४३.

६. अन्तरवासं भिक्षुणीयो कारापयन्तीया प्रामाणिकं कारापयितव्यं। तत्रेदं प्रमाणं दीर्घसो चत्वारिवितस्तियो। सुगतवितस्तिना। तिर्यग द्वे तद उत्तरिं कारापेयच्छेदन पाचत्तिकं ॥ —भिक्षुणी विनय, §१८६.

७. या पुन भिक्षुणी अगिलाना परिहारकं चीवरं न परिहरति पाचत्तिकं।

—वही, §१९१.

८. या पुन भिक्षुणी चिकित्सतविद्यया जीविकां कल्पयेत पाचत्तिकं।

—वही, §१९६.

९. या पुन भिक्षुणी आगारिकं वा परिव्राजिकं वा चिकित्सितविद्यां वाच्येत, पाचत्तिकं। —वही, §१९७.

१०. या पुन भिक्षुणी जानन्ती सम्भोजनीयं कुलं दिवा पूर्वे अप्रतिसम्विदिता उपसंक्रमेय पाचत्तिकं। —वही, §१९९.

९१वाँ[1], १०२वाँ[2], १२६वाँ[3] तथा १४१वाँ[4] पाचत्तिकं नियम थेरवाद निकाय के न तो भिक्खुनी पाचित्तिय में प्राप्त होते हैं और न ही भिक्खु पाचित्तिय में।

निस्सग्गिय पाचित्तिय

यह दण्ड मुख्य रूप से चीवर तथा पात्र के सम्बन्ध में दिया जाता था तथा इस प्रकार के अपराध करने वाले व्यक्ति को अपने वस्त्रों तथा पात्रों को कुछ समय के लिए त्यागना पड़ता था। संघ, गण या पुग्गल (व्यक्ति) के समक्ष अपने दोषों को स्वीकार कर लेने पर इस दोष का निराकरण हो जाता था।[5]

भिक्षुणियों के निस्सग्गिय पाचित्तिय अपराध निम्न हैं—

भि० नि० पाचि० (थेरवादी)	भि० नि० पाच० (महा-सांघिक)	विषय
१	१४	जो भिक्षुणी अधिक पात्रों का संचय करे।
२	×	जो भिक्षुणी अकालचीवर को कालचीवर मानकर ग्रहण करे।
३	१६	जो भिक्षुणी अन्य भिक्षुणी से चीवर बदले।
४	१३	जो भिक्षुणी एक वस्तु कहकर दूसरी वस्तु मँगाये। (अञ्ञं विञ्ञापेत्वा अञ्ञं विञ्ञापेय्य)

---

१. सा एषा भिक्षुणी भिक्षुं सम्मुखम् आक्रोशति पाचत्तिकं।
—भिक्षुणी विनय, §२०५.

२. देशितशिक्षा पि च भवति गृहिचरितानाम् अपरिपूरिशिक्षाम् उपस्थापयेत पाचत्तिकं। —वही, §२१६.

३. या पुन भिक्षुणी गृहीणानाम् उद्वर्तन-परिमर्दन-स्नान-सम्मतेहि उद्वर्तापयेत परिमर्दापयेत पाचत्तिकं। —वही, §२४०.

४. या पुन भिक्षुणी जानन्ती गणलाभं गणस्य परिणतं गणस्य परिणामयेत पाचत्तिकं। —वही, §२५९.

५. "निस्सज्जितब्बं संघस्स वा गणस्स वा पुग्गलस्स वा एक भिक्खुनिया वा"
—पाचित्तिय पालि, पृ० ३३१.

"संघमञ्झे गणमञ्झे एकस्सेव च एकतो निस्सज्जित्वान देसेति-तेनेतं इति वुच्चति" —परिवार पालि, पृ० २६३.

५	१३	जो भिक्षुणी एक वस्तु कहकर दूसरी वस्तु मँगाये। (अञ्ञं चेतापेत्वा अञ्ञं चेतापेय्य)
६	१३	जो भिक्षुणी एक वस्तु कहकर दूसरी वस्तु मँगाये। (अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन संघिकेन अञ्ञं चेतापेय्य)
७	११	जो भिक्षुणी याचित वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु मँगाये।
८	१२	जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु मँगाये (अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दोसिकेन महाजनिकेन अञ्ञं चेतापेय्य)
९	१२	जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु मँगाये। (अञ्ञुद्दिसिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन महाजनिकेन संयाचितेन अञ्ञं चेतापेय्य)
१०	१२	जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तु मँगाये। (अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन पुग्गलिकेन संयाचिकेन अञ्ञं चेतापेय्य)
११	१९	जो भिक्षुणी शीतकाल के लिए मूल्यवान (चार कंस से अधिक मूल्य का) वस्त्र मँगाये।
१२	२०	जो भिक्षुणी ग्रीष्मकाल के लिए ढाई कंस से अधिक (अड्ढतेय्यकंसपरमं) मूल्य का वस्त्र मँगाये।
१३	१	जो भिक्षुणी दस दिन से अधिक अतिरेक चीवर धारण करे।
१४	२	जो भिक्षुणी भिक्षुणियों की सम्मति के बिना एक रात्रि के लिए भी पाँच चीवरों से रहित रहे।
१५	३	जो भिक्षुणी अकालचीवर को एक मास से अधिक रखे।

१६	६	जो भिक्षुणी विशिष्ट परिस्थिति (चीवर फट जाने अथवा नष्ट हो जाने पर) के अतिरिक्त अज्ञात गृहपति से चीवर माँगे।
१७	७	यथेच्छ चीवर प्राप्त होने पर आवश्यकता से एक कम चीवर ग्रहण करना चाहिए, जो भिक्षुणी इस नियम का अतिक्रमण करे।
१८	८	जो भिक्षुणी उद्देश्यपूर्वक उत्तम चीवर की याचना करे।
१९	९	जो भिक्षुणी प्राप्त चीवर में परिवर्तन कराये।
२०	१०	जो भिक्षुणी चीवर माँगने के लिए किसी के पास दो-तीन बार से अधिक जाये।
२१	४	जो भिक्षुणी सोना, चाँदी (जातरूपरजतं) को ग्रहण करे।
२२	२५	जो भिक्षुणी नाना प्रकार के रूपयों का व्यवहार (रूपियसंवोहारं) करे।
२३	५	जो भिक्षुणी नाना प्रकार के चीवर, भैषज्य आदि का क्रय-विक्रय करे।
२४	२२	जो भिक्षुणी पाँच से कम छेद वाले पात्र को बदल कर नया पात्र ले।
२५	२३	जो भिक्षुणी घी, तेल, मधु, मक्खन, खांड को एक सप्ताह से अधिक रखकर उसको ग्रहण करे।
२६	२४	जो भिक्षुणी स्वयं किसी भिक्षुणी को चीवर देकर बाद में कुपित तथा असन्तुष्ट हो।
२७	२६	जो भिक्षुणी सूत माँगकर जुलाहे से चीवर बुनवाये।
२८	२७	जो भिक्षुणी जुलाहे से कहकर चीवर में परिवर्तन करवाये।
२९	२८	जो भिक्षुणी अतिरिक्त चीवर को चीवर-काल से अधिक समय तक ग्रहण करे।

३०	३०	जो भिक्षुणी संघ के लिए प्राप्त वस्तु को अपने उपयोग में लाये।

थेरवादी तथा महासांघिक—दोनों निकायों में भिक्षुणियों के ३० निस्सग्गिय पाचित्तिय धर्म (नियम) हैं। भिक्षुणी-विनय में इसे "निःसर्गिक पाचत्तिक" कहा गया है। दोनों के विषय प्रायः समान हैं। महासांघिक भिक्षुणी-विनय का १३ वाँ नियम कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ थेरवादी विनय के चोथे,पाँचवें तथा छठे नियम में प्राप्त होता है। इसी प्रकार महासांघिक निकाय का १२ वाँ नियम कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ थेरवादी निकाय के आठवें, नवें तथा दसवें नियम में प्राप्त होता है—यद्यपि इनके मूल अर्थ एक हैं। महासांघिक भिक्षुणी-विनय का १५ वाँ नियम[1] थेरवादी विनय (नियम) में नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार १७ वाँ, १८ वाँ तथा २१ वाँ नियम भी थेरवादी निस्सग्गिय पाचित्तिय में नहीं है। यद्यपि कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ पाचित्तिय नियम में प्राप्त होता है। महासांघिक निःसर्गिक पाचत्तिक का १७ वाँ तथा १८ वाँ नियम थेरवादी भिक्खुनी पाचित्तिय के क्रमशः २३ वें तथा ७७ वें नियम के समान है तथा २१ वाँ नियम थेरवादी भिक्खु निस्सग्गिय पाचित्तिय के २१ वें नियम के समान है।[2] महासांघिक निकाय का २३ वाँ नियम[3] थेरवादी विनय में नहीं प्राप्त होता।

पाटिदेसनीय

पाटिदेसनीय (प्रतिदेशना) अपराध मुख्य रूप से भोजन से सम्बन्धित था। यह लहुकापत्ति श्रेणी में आता था। इसमें एक योग्य भिक्षुणी के समक्ष अपने अपराध को स्वीकार कर लेने पर इसका निराकरण हो जाता था। अच्छे भोजन के प्रति भिक्षु-भिक्षुणियों के मन में ममत्व या लालच का भाव नहीं आना चाहिए—इस दण्ड की यही मुख्य शिक्षा थी। स्वस्थ

---

१. "या पुन भिक्षुणी चीवर—सन्निचयं कुर्यात निस्सर्गिक—पाचत्तिकम्"
—भिक्षुणी विनय, §१७६.

२. "दसाहपरमं अतिरेकपत्तो धारेतब्बो, तं अतिक्कामयतो निस्सग्गियं पाचित्तियं"—पातिमोक्ख, भिक्खु निस्सग्गिय पाचित्तिय, २१.

३. "या पुन भिक्षुणी जानन्ती परोपगतम् चेतापयेन निस्सर्गिक पाचत्तिकं"
—भिक्षुणी विनय, §१८२.

भिक्षुणी को तेल, घी, मधु, मछली, मांस आदि लेने से मना किया गया था।[१] इस नियम का अतिक्रमण करने पर ही उसे प्रतिदेशना करनी पड़ती थी।

भिक्षुणियों के पाटिदेसनीय धर्म निम्न हैं—

भि० पाटि० (थेरवादी)	भि० प्रति देशनिक (महासांघिक)	विषय
१	१	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये घी (सप्पि) माँग कर खाये।
२	६	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये दधि (दधिं) माँग कर खाये।
३	२	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये तेल (तेंल) माँग कर खाये।
४	३	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये मधु (मधुं) माँग कर खाये।
५	४	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये मक्खन (नवनीतं) माँग कर खाये।
६	७	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये मत्स्य (मच्छं) माँग कर खाये।
७	८	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये मांस (मंसं) माँग कर खाये।
८	५	जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुये दूध (खीरं) माँग कर खाये।

दुक्कट (दुष्कृत्य)

मन में बुरी भावना लाने या बुरे कर्मों को करने पर यह दण्ड दिया जाता था। छोटे अपराधों पर दोषी व्यक्ति को इसी का दण्ड दिया जाता था।[२] यद्यपि इस दण्ड को भिक्खु अथवा भिक्खुनी पातिमोक्ख में शामिल नहीं किया गया है तथापि सेखिय नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति इस दण्ड का भागी बनता था।[३]

१. परिवार पालि, पृ० २६४.

२. "यं हि दुट्ठुकतं विरूपं वा कतं तं दुक्कटम्".

—समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १४५८.

३. पाचित्तिय पालि, पृ० २४५-२८०.

दुब्भासित

बुद्ध, धर्म, संघ या किसी के प्रति कटु या बुरे वचनों का प्रयोग करने पर इस अपराध का भागी बनना पड़ता था[1]। इस दण्ड की मुख्य शिक्षा यह थी कि भिक्षुणियों को अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए।

महासांघिकों के भिक्षुणी-विनय में थुल्लच्चय तथा दुब्भासित प्रायश्चित्त का उल्लेख नहीं प्राप्त होता।

उपर्युक्त जिन विभिन्न दण्डों (प्रायश्चित्तों) का वर्णन किया गया है, अपराधी भिक्षुणी को उसके अपराध की गम्भीरता के अनुसार दण्ड दिया जाता था। दोनों संघों में एक ही अपराध करने पर उसकी गम्भीरता के अनुसार विभिन्न प्रकार के दण्ड हो सकते थे। कुछ मुख्य अपराधों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

मैथुन सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) जो भिक्षुणी अपने गुप्तेन्द्रिय को तेल, घृत या मक्खन से मले, उसके अन्दर उँगली प्रवेश करे, शीतल या अचित्त गर्म जल से धोवे तो उसे मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[2]।

(ख) हस्तकर्म करने वाली भिक्षुणियों को अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[3]।

(ग) मल-मूत्र का परित्याग करते समय यदि भिक्षुणी के अंगों को पशु-पक्षी स्पर्श कर ले और उस स्पर्श से यदि वह आनन्दित हो, तो उसे अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त[4]।

(घ) बीमारी अथवा दुर्बलता के कारण किसी पुरुष के द्वारा सहायता करने पर यदि वह पुरुष-स्पर्श पाकर आनन्दित हो, तो उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त[5]।

---

१. "दुब्भासितं दुराभट्ठं ति दुट्ठं आभट्ठं भासितं लपितं ति दुराभट्ठम्। यं दुराभट्ठं तं दुब्भासितम्"—समन्तपासादिका, भाग तृतीय, पृ० १४५९.

२. निशीथ सूत्र, १/१-९.

३. बृहत्कल्पसूत्र, ४/१.

४. वही, ५/१३-१४.

५. वही, ५/२;५/४.

(ङ) परस्पर मैथुन सेवी भिक्षुणियों को तथा कामवश किसी पुरुष में अनुरक्त (दुट्ठे पारंचिए) भिक्षुणी को पारांजिक प्रायश्चित्त[१]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) कामासक्त होकर जो भिक्षुणी पुरुष के कमर के नीचे तथा घुटने के ऊपर के हिस्से (उब्भजानुमण्डल) को स्पर्श करे, दबाये या सहलाये, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[२]।

(ख) जो भिक्षुणी कामासक्त होकर पुरुष का हाथ पकड़े, पुरुष के संकेत की ओर जाये, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[३]।

(ग) जो भिक्षुणी कामासक्त होकर मैथुन-सेवन करे, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[४]।

(घ) पाराजिक अपराधी भिक्षुणी को जानते हुए भी उसे न स्वयं चेतावनी दे और न संघ को सूचित करे, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[५]।

(ङ) जो भिक्षुणी कामासक्त होकर किसी पुरुष से खाद्य-भोजन ग्रहण करे, तो मानत्त प्रायश्चित्त[६]।

(च) किसी अन्य भिक्षुणी को इस प्रकार का खाद्य-पदार्थ लेने के लिए प्रोत्साहित करने पर भी मानत्त प्रायश्चित्त[७]।

(छ) जो भिक्षुणी काम सम्बन्धी किसी स्त्री की बात को पुरुष से तथा पुरुष की बात को स्त्री से कहे, तो मानत्त प्रायश्चित्त[८]।

(ज) जो भिक्षुणी अपने गुप्तांगों के रोम को बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[९]।

---

१. बृहत्कल्पसूत्र, ४/२.
२. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाराजिक, ५.
३. वही, ८.
४. वही, १.
५. वही, ६.
६. वही, भिक्खुनी संघादिसेस, ५.
७. वही, ६.
८. वही, ७.
९. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, २.

(झ) जो भिक्षुणी कृत्रिम मैथुन करे अथवा अपने गुप्तांगों को थपथपाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[१]।

(ज) अपने गुप्तांग में उँगलियों को गहरे तक ले जाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[२]।

(ट) रात्रि के अन्धकार में अकेले पुरुष से बात करने पर अथवा एकान्त में, खुले में, सड़क पर या चौरास्ते पर अकेले पुरुष से बात करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[३]।

हिंसा सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) अपने हाथ से अथवा किसी लकड़ी की सहायता से किसी की हिंसा करे, तो अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त[४]।

(ख) जो अकाल मृत्यु की प्रशंसा करें, उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[५]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) जो भिक्षुणी आत्महत्या के लिए अथवा किसी के प्राणघात के लिए शस्त्र आदि खोजे तथा मृत्यु की प्रशंसा करे, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[६]।

(ख) जो भिक्षुणी जानबूझकर किसी जीव को मारे या जीव सहित जल पिये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[७]।

चोरी सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) अपने गच्छ या संघ अथवा दूसरे धर्मावलम्बियों की वस्तु चुराने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त[८]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) किसी वस्तु को बिना दिए हुए ग्रहण करने अथवा उसे चुराने पर पाराजिक प्रायश्चित्त[९]।

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ३-४.
२. वही, ५.
३. वही, ११-१४.
४. बृहत्कल्पसूत्र, ४/३.
५. निशीथसूत्र, ११/१९७.
६. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाराजिक, ३.
७. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, १४२-४३.
८. बृहत्कल्पसूत्र, ४/३.
९. पातिमोक्ख भिक्खुनी पाराजिक, २.

नियम एवं संघ सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) यात्रा आदि के समय प्रवर्त्तिनी की अचानक मृत्यु हो जाने पर उसके द्वारा प्रस्तावित किसी भिक्षुणी को प्रवर्त्तिनी पद पर बैठा दिया जाता था, परन्तु यदि वह अयोग्य होती थी तो उसे हटा देने का विधान था। ऐसी भिक्षुणी संघ के कहने पर यदि न हटे, तो जितने दिन वह पद पर रहे, उतने दिन का छेद प्रायश्चित्त[1]।

(ख) यात्रा आदि के समय भिक्षुणियाँ यदि बिना प्रवर्त्तिनी या गणावच्छेदिनी के निश्रय में रहें, तो छेद प्रायश्चित्त[2]।

(ग) जो भिक्षुणी उद्घातिक प्रायश्चित्त को अनुद्घातिक प्रायश्चित्त तथा अनुद्घातिक प्रायश्चित्त को उद्घातिक प्रायश्चित्त कहे, तो चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[3]।

(घ) अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा दे, तो चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[4]।

(ङ) कलह करके संघ से निकले साधु-साध्वी को आहार-वस्त्र, पात्र आदि देने पर चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[5]।

(च) जो भिक्षुणी अन्य धर्मावलम्बियों से अपने हाथ, पाँव, नाक, आँख की सेवा कराये, तो चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[6]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) संघ से निकाले गये भिक्षु का यदि कोई भिक्षुणी तीन बार मना करने पर भी साथ न छोड़े, तो पाराजिक प्रायश्चित्त[7]।

(ख) संघ से निकाली गयी भिक्षुणी को साथी (सहजीवनी) बनाने पर मानत्त प्रायश्चित्त[8]।

---

१. व्यवहार सूत्र, ५/१२-१४.
२. वही, ५/११.
३. निशीथ सूत्र, १०/१५-१८.
४. वही, ११/१८९.
५. वही, १६/१६-२४.
६. वही, १५/१३-६७.
७. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाराजिक, ६.
८. वही, भिक्खुनी संघादिसेस, ४.

(ग) द्वेषवश किसी दूसरी भिक्षुणी के ऊपर झूठा पाराजिक का दोषारोपण करे, तो मानत्त प्रायश्चित्त[१]।

(घ) जो भिक्षुणी तीन बार मना करने पर भी बुद्ध, धर्म तथा संघ का प्रत्याख्यान करे, तो मानत्त प्रायश्चित्त[२]।

(ङ) संघ-भेद का प्रयत्न करने वाली भिक्षुणी को तथा संघ-भेदक का अनुसरण करने वाली भिक्षुणी को मानत्त प्रायश्चित्त[३]।

(च) संघ आदि को सूचित किये बिना जो चोरनी या वंध्या को भिक्षुणी बनाये, तो मानत्त प्रायश्चित्त[४]।

(छ) गुप्त रूप से भिक्षुणी-संघ के प्रति द्वेष रखने वाली, एक दूसरे की बुराइयों को छिपाने वाली तथा इस कार्य को प्रोत्साहन देने वाली भिक्षुणी को मानत्त प्रायश्चित्त[५]।

(ज) जो गर्भिणी या दूध पीते बच्चे वाली माँ को भिक्षुणी बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[६]।

(झ) जो भिक्षुणी षड्धर्मों का सम्यक् पालन किये बिना शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये या सीख लेने पर भी संघ की अनुमति के बिना भिक्षुणी बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[७]।

(ञ) १२ वर्ष से कम आयु की विवाहित शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[८]।

(ट) २० वर्ष से कम आयु की अविवाहित शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[९]।

(ठ) जो संरक्षक की अनुमति के बिना शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[१०]।

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी संघादिसेस ८, ९.
२. वही, १०.
३. वही, १४, १५.
४. वही, २.
५. वही, १२, १३.
६. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, ६१-६२.
७. वही, ६३, ६४.
८. वही, ६५, ६६, ६७.
९. वही, ७१, ७२, ७३.
१०. वही, ८०.

(ड) जो दिव्य शक्ति के प्राप्त होने का प्रचार करे, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[१]।

(ढ) जो भिक्षुणी संघ की वस्तुओं को असावधानीपूर्वक इधर-उधर रख दे या क्रोध में किसी दूसरी भिक्षुणी को उपाश्रय से निकाल दे, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[२]।

(ण) बिना प्रमाण का संघादिसेस दोष लगाने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[३]।

(त) संघ के लिए प्राप्त वस्तु का अपने लिए उपयोग करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[४]।

(थ) दूसरी भिक्षुणियों को जान-बूझकर परेशान करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[५]।

आहार सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी:—(क) रात्रि-भोजन करने पर अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[६]।

(ख) नाव में या जल में बैठे या खड़े होकर भोजन ग्रहण करने पर चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[७]।

(ग) जो दिन के भोजन की निन्दा करे तथा रात्रि-भोजन की प्रशंसा करे तथा प्राप्त भोजन को अन्तिम प्रहर में ग्रहण करे, तो चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[८]।

(घ) गृहस्थ के बर्तन में भोजन करे, तो चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[९]।

(ङ) दो कोस की दूरी से अधिक जाकर भोजन की गवेषणा करे, तो चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[१०]।

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १०४.
२. वही, ११०, १११, ११२, ११३, ११४.
३. वही, १५४.
४. वही, १६०.
५. वही, १५५, १५६.
६. बृहत्कल्पसूत्र, ४/१.
७. निशीथ सूत्र, १८।१९-२३.
८. वही, ११।१७७-१८६.
९. वही, १२।१४.
१०. वही, १२।३७.

(च) जो राजकीय उत्सवों के समय, राज्याभिषेक के समय वहाँ बचे हुये आहार को ग्रहण करे, तो चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[1]।

(छ) जो भिक्षुणी राजाओं के यहाँ से भोजन की याचना करे या उनके अन्तःपुर के नौकरों, दासों का भोजन माँगे या राजाओं के घोड़े, हाथी आदि जानवरों का भोजन माँगे, तो चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त[2]।

(ज) जो भिक्षुणी स्वादिष्ट भोजन ग्रहण कर खराब भोजन को फेंक दे या शय्यातर (उपाश्रय का स्वामी) के घर का भोजन ग्रहण करे, तो मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[3]।

(झ) जो भिक्षुणी अन्य धर्मावलम्बियों से भोजन की याचना करे, तो मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[4]।

(ज) आचार्य या उपाध्याय को दिये बिना जो भिक्षुणी भोजन करे, तो मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[5]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) स्वस्थ भिक्षुणी यदि घी, तेल, मधु, माँस, मछली, मक्खन तथा दूध का सेवन करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय[6]।

(ख) लहसुन का सेवन करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[7]।

(ग) कच्चे अनाज को मांगकर या भूनकर खाने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[8]।

(घ) गृहस्थ या परिव्राजक को अपने हाथ से भोजन देने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[9]।

(ङ) तृप्त हो जाने पर पुनः भोजन करने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[10]।

---

१. निशीथ सूत्र, ८।१५-१९.
२. वही, ९।१-६; ९।२२-२६.
३. वही, २।४३-४५.
४. वही, ३।१-१५.
५. वही, ४।२२-२४.
६. पातिमोक्ख, भिक्खुनी निस्सग्गिय पाचित्तिय, २५.
७. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय १.
८. वही, ७.
९. वही, ४६.
१०. वही, ५४.

(च) जो भिक्षुणी विकाल में भोजन करे, स्वादिष्ट आहार के लोभ में किसी एक गृहस्थ के यहाँ जाये तथा पुरुष के साथ बैठे, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[१] ।

वस्त्र सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) भिक्षुणी द्वारा वस्त्र को स्वयं खरीदने, रंगने, धोने तथा सुगन्धित आदि करने पर चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[२] ।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) चीवर तथा कठिन चीवर सम्बन्धी संघ के नियमों का उल्लंघन करने पर निस्सग्गिय पाचित्तिय[३] ।

(ख) दूसरे के चीवर को धारण करने तथा चीवर के बाँटने में बाधा डालने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[४] ।

(ग) ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु में शरीर पर ओढ़ने का वस्त्र यदि अधिक मूल्यवान हो, तो निस्सग्गिय पाचित्तिय[५] ।

(घ) उचित माप से छोटा या बड़ा वस्त्र बनवाने पर पाचित्तिय प्रायश्चित्त[६] ।

(ङ) जो भिक्षुणी बिना कंचुक गाँव में जाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[७]।

(च) जो भिक्षुणी मासिक सम्बन्धी वस्त्र को उपयोग के पश्चात् स्वच्छ करके न रखे, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[८] ।

(छ) जो भिक्षुणी सूत काते, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[९] ।

---

१. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ११७-१२४.
२. निशीथ सूत्र, १२।१५-१७.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी निस्सग्गिय पाचित्तिय, १३–२०; २६-२९.
४. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, २३-३०.
५. वही, भिक्खुनी निस्सग्गिय पाचित्तिय, ११-१२.
६. वही, भिक्खुनी पाचित्तिय, १६५-१६६.
७. वही, ९६.
८. वही, ४७-४८.
९. वही, ४३.

स्वाध्याय सम्बन्धी अपराध

जैन भिक्षुणी—(क) जो भिक्षुणी अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करे तथा स्वाध्याय काल में अस्वाध्याय करे, तो उसे चातुर्मासिक उद्घातिक प्रायश्चित्त[१]।

(ख) भावहीन होकर सूत्र का उच्चारण करे या शब्दों को छोड़कर पढ़े, तो मासलघु प्रायश्चित्त[२]।

बौद्ध भिक्षुणी—(क) जो भिक्षुणी झूठी विद्याओं को सीखे या पढ़ाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[३]।

(ख) धर्म के सार को संक्षिप्त रूप से कहने का विधान था, जो भिक्षुणी इस नियम का अतिक्रमण करे, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[४]।

(ग) जो भिक्षुणी उपदेश सुनने या उपोसथ में न जाये, तो पाचित्तिय प्रायश्चित्त[५]।

तुलना—उपर्युक्त अध्ययन से दोनों संघों में दण्ड-प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों में काफी समानता दिखाई पड़ती है। दोनों ही भिक्षुणी-संघों में मैथुन, चोरी तथा हिंसा को गम्भीरतम अपराध समझा जाता था तथा इसके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। संघ की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था। संघ के प्रति किया गया थोड़ा भी अनादर का भाव अथवा उसके नियमों की अवहेलना दोनों संघों की भिक्षुणियों को कठोर दण्ड की भागी बनाती थी। संघ की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने का हर सम्भव प्रयत्न किया गया था। जिस भिक्षु या भिक्षुणी को किसी कारणवश संघ से निकाल दिया जाता था—उसका अनुसरण करने वाला भी उसी के समान अपराधी समझा जाता था। बौद्ध संघ में तो ऐसे भिक्षुणी के लिए पाराजिक दण्ड की व्यवस्था थी अर्थात् संघ में अब वह कभी भी नहीं ली जा सकती थी। अयोग्य पात्र को संघ में प्रवेश कराना भी गम्भीर अपराध था। संघ-प्रवेश के समय दोनों संघों में अत्यन्त सतर्कता बरती जाती थी क्योंकि ऐसे व्यक्ति संघ

---

१. निशीथ सूत्र, १९।१०-२०.
२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग प्रथम, २८८-२९९.
३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, ४९-५०.
४. वही, १०३.
५. वही, ५८-५९.

में प्रवेश कर अनेक दुराचारों को जन्म दे सकते थे। अतः इन परिस्थितियों का निराकरण करने के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्न किया गया था।

भोजन, वस्त्र, पात्र आदि के सम्बन्ध में भी दोनों संघों के दण्ड-विधान में समानता दिखाई पड़ती है। सादा एवं सात्त्विक भोजन ही ग्रहण करने का विधान था। रात्रि-भोजन दोनों ही संघों में अग्रहणीय था। गृहीत पदार्थ चाहे जैसा भी हो, उसे सत्कारपूर्वक ग्रहण करने का विधान था। वस्त्र, पात्र आदि के सम्बन्ध में भी नियम बनाये गये थे तथा दाता की भावनाओं का भी सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाता था। दोनों संघों में भिक्षुणियों को भिक्षावृत्ति या यात्रा के समय शरीर को पूरी तरह ढँक कर जाने की सलाह दी गयी थी। इन नियमों का अतिक्रमण करने पर दोनों संघों में दण्डों की लगभग समान व्यवस्था थी। दोनों संघों में भिक्षुणियों को परिहार (परिवास) दण्ड देने का निषेध था। ऐसा सम्भवतः उनकी शील-सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया गया था।

दोनों भिक्षुणी-संघों के प्रायश्चित्त सम्बन्धी नियमों में कुछ अन्तर भी हैं, जो निम्न हैं—

(क) पारांजिक अपराधी जैन भिक्षुणी को कम से कम एक वर्ष तथा अधिक से अधिक १२ वर्ष तक गृहस्थ वेश पहना कर पुनः श्रमण-धर्म में प्रवेश दिया जा सकता था। इसके विपरीत पाराजिक अपराधी बौद्ध भिक्षुणी को संघ से सर्वदा के लिए निकाल दिया जाता था। ऐसी भिक्षुणी को "अभिक्खुनी" कहा गया है।

(ख) दण्ड देने की प्रक्रिया में भी दोनों संघों में अन्तर था। बौद्ध संघ में सारी प्रक्रिया संघ के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। ज्ञप्ति, तीन बार वाचना तथा अन्त में धारणा के द्वारा संघ की मौन सहमति को उसकी स्वीकृति जानकर अपराधी को दण्ड-मुक्त किया जाता था। जैन संघ में इस लम्बी प्रक्रिया का अभाव था। अप.. भिक्षुणी को प्रायश्चित्त के लिए पूरे संघ के समक्ष निवेदन नहीं करना होता था, अपितु गच्छ या संघ के पदाधिकारियों के सम्मुख वह स्वयं निवेदन करती थी।

(ग) जैन संघ में जब कोई भिक्षुणी अपराध करती थी, तब वह तुरन्त अपने गच्छ-प्रमुख या प्रवर्तिनी के पास जाकर अपने अपराधों को बताती थी। बौद्ध संघ में इस प्रकार का नियम नहीं था। यहाँ प्रत्येक १५वें दिन उपोसथ के समय पातिमोक्ख नियमों की वाचना होती थी, जिसमें सारे नियमों

को दुहराया जाता था। अतः बौद्ध भिक्षुणी-संघ में १५ दिन बाद ही संघ को अपराधों की सूचना मिलती थी। इसी प्रकार प्रवारणा (वर्ष में एक बार) के समय दृष्ट, श्रुत तथा परिशंकित अपराधों की जाँच होती थी।

(घ) जैन संघ में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में भी "भिक्खु वा भिक्खुणी वा" तथा "निग्गन्थ वा निग्गन्थी वा" कहकर भिक्षु-भिक्षुणियों के अधिकांश नियमों में समानता स्थापित की गई है। एक अपराध करने पर भिक्षु को जो दण्ड दिया जाता था, वही दण्ड भिक्षुणी के लिए भी निर्धारित था। परिहार के दण्ड से भिक्षुणी को मुक्त करने के अतिरिक्त भिक्षु-भिक्षुणियों में अन्य कोई मूलभूत भेद नहीं किया गया है। बौद्ध संघ में भी परिहार की तरह यद्यपि परिवास के दण्ड से भिक्षुणियों को मुक्त किया गया है, परन्तु बौद्ध संघ में भिक्खु पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी पातिमोक्ख, जिसमें नियमों का उल्लेख है—का अलग-अलग विभाजन है। भिक्खुनी पातिमोक्ख में नियमों की संख्या भिक्खु पातिमोक्ख के नियमों से ज्यादा है।

(ङ) जैन दण्ड-व्यवस्था की एक प्रमुख विशिष्टता अपराध की गुरुता में भेद करना था। एक ही अपराध करने पर उच्च पदाधिकारियों को कठोर दण्ड तथा निम्न पदाधिकारियों को नरम दण्ड की व्यवस्था थी। संघ के उच्च पदाधिकारी चूँकि नियमों के ज्ञाता होते थे, अतः उनसे यह आशा की जाती थी कि वे नियमों का सूक्ष्मता से पालन करेंगे। संघ को सुव्यवस्थित आधार प्रदान करने के लिए उनसे ऐसा आदर्श उपस्थित करने को कहा गया था, जिससे अन्य लोग उनका अनुसरण कर सकें। बौद्ध संघ में यह बात नहीं थी। अपराध करने पर संघ के सभी सदस्यों के लिए समान दण्ड की व्यवस्था थी। जैन एवं बौद्ध संघों की दण्ड-प्रक्रिया का यह एक मूल- भूत अन्तर था।

(च) इसके अतिरिक्त जैन संघ में अपराधों की गुरुता परिस्थितियों के अनुसार कम-ज्यादा भी होती थी। यदि भिक्षु या भिक्षुणी स्वेच्छा से अपराध करते थे, तो उन्हें गम्भीर दण्ड दिया जाता था तथा यदि वही अपराध अनजान में अथवा विवशता से किया गया हो, तो नरम दण्ड की व्यवस्था थी। अपराधी अपने पदाधिकारी से उन परिस्थितियों को बताता था, जिनमें वह अपराध करने के लिए प्रेरित होता था। बौद्ध संघ में यह विशेषता नहीं पाई जाती है।

(छ) जैन संघ में प्रायश्चित्त के १० प्रकार हैं, जिनमें आलोचना, प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग करना जैन भिक्षुणियों का प्रतिदिन का कार्य था।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रायश्चित्तों की संख्या ७ थी। यहाँ प्रतिदिन गुरु के पास आलोचना आदि करने का विधान नहीं था।

(ज) बौद्ध संघ में प्रत्येक नियम के निर्माण के सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख किया गया है। इसकी सहायता से नियम की गुरुता तथा उसकी प्रकृति को सरलता से समझा जा सकता है, परन्तु जैन ग्रन्थों में इस प्रकार की घटनाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि परवर्ती ग्रन्थों (भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि आदि) की सहायता से ही नियमों की प्रकृति को जाना जा सकता है।

सप्तम अध्याय

भिक्षु-भिक्षुणी सम्बन्ध एवं संघ में भिक्षुणी की स्थिति

जैन एवं बौद्ध दोनों संघ-भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका—ऐसे चार भागों में विभाजित थे, परन्तु संघ के मूल स्तम्भ भिक्षु-भिक्षुणी ही थे। प्राचीन साहित्य में जितने भी नियमों एवं उप-नियमों का निर्माण हुआ, वे प्रमुखतया इन्हीं से सम्बन्धित थे। संघ में एक साथ रहते हुए भिक्षु और भिक्षुणियों में पारस्परिक सम्बन्ध एवं परिचय का होना स्वाभाविक था। इन सम्बन्धों एवं मेलजोल प्रसंगों के परिणामस्वरूप चारित्रिक पतन की सम्भावना भी हो सकती थी। अतः संघ में उनके पारस्परिक व्यवहार को जहाँ तक सम्भव हो सका, कम करने की कोशिश की गई इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों में प्रारम्भ से ही विस्तृत नियमों की रचना की गई थी।

जैन धर्म में भिक्षुणी की स्थिति

जाति, धर्म, रंग, रूप लिंग आदि में समानता का दावा करने के बाद भी यह स्पष्ट है कि जैन संघ में भिक्षुणियों की स्थिति निम्न थी। जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने तो स्त्री को तब तक मुक्ति की अधिकारिणी ही नहीं माना, जब तक कि वह पुरुष के रूप में पुनः जन्म न ले। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की विचारधारा उदार रही। इन्होंने नारी को न केवल मोक्ष का अधिकारी बताया, अपितु यह भी स्वीकार किया कि नारी सर्वोच्च तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकती है। श्वेताम्बर जैन परम्परा के, आगम ग्रन्थों में प्रयुक्त 'भिक्खु भिक्खुनी वा'' तथा ''निग्गन्थ-निग्गन्थी वा'' शब्द से भी यह द्योतित होता है कि अधिकांश नियम दोनों के लिए समान थे।

परन्तु, श्वेताम्बर सम्प्रदाय की इस उदारवादी दृष्टि के बावजूद भी उनके आगमों में स्त्री-दोषों को बढ़ा-चढ़ा कर ही चित्रित किया गया है। उत्तराध्ययन में स्त्रियों को पंक के समान बताते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार पंक प्राणी को अपने में फँसा लेता है उसी प्रकार स्त्रियाँ पुरुष को

विषय वासनाओं के पंक में फँसा लेती हैं।[१] उनके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वे पुरुष को प्रलोभन में फँसाकर खरीदे हुए दास की भाँति नचाने वाली हैं।[२] सूत्रकृतांग में स्त्रियों को पुरुष का ब्रह्मचर्य नष्ट करने वाला कहा गया है।[३] गच्छाचार में स्त्री का स्पर्श विषधर सर्प, प्रज्वलित अग्नि तथा हलाहल विष के समान माना गया है।[४]

साधु के लिए इस संसार में साध्वी के अतिरिक्त और कोई बन्धन नहीं है।[५] जिस प्रकार श्लेष्म में पड़ी हुयी मक्षिका अपने आप को नहीं छुड़ा सकती, उसी प्रकार स्त्री के बन्धन में फँसा हुआ साधु संसार-सागर से पार नहीं पा सकता।[६] वे भिक्षुओं के ब्रह्मचर्य को स्खलित करने का साधन मानी गयीं।

यद्यपि नारी जाति की निन्दा भिक्षुओं के ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने के सन्दर्भ में की गयी थी, परन्तु इससे भिक्षुणियों की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

जैन ग्रन्थों में भिक्षु-भिक्षुणियों को एक साथ ठहरने का निषेध किया गया था। उनका उपाश्रय-स्थल भी एक दूसरे के समीप नहीं हो सकता था[७] क्योंकि उपाश्रय समीप रहने से उनमें पारस्परिक रागभाव होने की सम्भावना थी। ऐसे उपाश्रयों में जिनके द्वार एक दूसरे के आमने-सामने हों, एक उपाश्रय के द्वार के पार्श्वभाग में दूसरे उपाश्रय का द्वार हो, एक उपाश्रय का द्वार ऊपर हो और दूसरे का नीचे अथवा उपाश्रय समपंक्ति में हों, तो ऐसे उपाश्रयों में भिक्षु-भिक्षुणियों को साथ-साथ रहने का निषेध किया गया था क्योंकि ऐसे उपाश्रय में रहने से जनसाधारण के मन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।[८]

---

१. "पंकभूया उ इत्थियो"—उत्तराध्ययन, २/१७.
२. वही, ८/१८.
३. सूत्रकृतांग, १/४/१/२६.
४. गच्छाचार, ८४.
५. वही, ७०.
६. वही, ६७.
७. बृहत्कल्पसूत्र, १/१०–११.
८. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २२३५–५६.

इस प्रकार के उपाश्रयों में रहने से उनके ब्रह्मचर्य की विराधना भी संभव थी। भिक्षुणी के गुप्तांग, कुच, उदर आदि को देखकर भिक्षु की कामवासना जागृत हो सकती थी।[1]

भिक्षु-भिक्षुणियों को भिक्षा के लिए भी साथ-साथ जाने का निषेध था। भिक्षुणियाँ भी दो या तीन की संख्या में ही जा सकती थीं, अकेली भिक्षुणी का जाना निषिद्ध था। भिक्षा के लिए जाते हुये यदि भिक्षु-भिक्षुणी संयोगवश आमने-सामने मिल जायें तो उन्हें निर्देश दिया गया था कि वे आपस में न तो वन्दना करें और न नमस्कार करें। उन्हें परस्पर बोलने तथा देखने का भी निषेध किया गया था।[2] भोजन के समय साधुओं की मण्डली में कोई भी भिक्षुणी नहीं जा सकती थी।[3] भयंकर अकाल पड़ने पर भी बिना विचारे साध्वियों द्वारा लाया हुआ आहार-पानी साधु के लिए निषिद्ध था।[4] संघ में भिक्षु-भिक्षुणियों को आपस में पात्र आदि उपकरणों के प्रयोग की भी मनाही थी। इसी प्रकार साध्वियों द्वारा दी गयी शारीरिक बल को बढ़ाने तथा बुद्धि को पुष्ट करने वाली औषधि का प्रयोग भिक्षु के लिए अग्रहणीय था।[5]

एकान्त में साधु-साध्वियों को आपस में बातचीत करने का सर्वथा निषेध किया गया था। नियम का उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। दृढ़ मन वाली तथा जनता में आदर प्राप्त भिक्षुणी को भी साधु द्वारा एकांत में पढ़ाना अनाचार माना गया था।[6] वृद्ध भिक्षु (स्थविर) भी अकेली साध्वी से व्यर्थ का वार्तालाप नहीं कर सकता था।[7] इसी प्रकार रात्रि के समय मुख्य भिक्षुणी भी वृद्ध अथवा तरुण भिक्षु से वार्तालाप नहीं कर सकती थी।[8] सहोदर भ्राता से भी जो कि अब भिक्षु बन

---

१. तासिं कक्खंतर-गुज्झदेस-कुच-उदर-ऊरुमादीए,
   निग्गहियइंदियस्स वि, दट्ठुं मोहो समुज्जलत्ति
   —बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, २२५७.

२. "न य वंदणं न नमणं, न य संभासो न वि य दिट्ठी".
   —वही, भाग तृतीय, २२१६.

३. गच्छाचार, ९६.

४. वही, ६१.

५. वही, ९१-९२.

६. वही, ९४.

७. वही, ६२.

८. वही, ११६.

चुका हो, कोई भी भिक्षुणी एकान्त में अकेले न तो मिल सकती थी और न वार्तालाप ही कर सकती थी।[१]

साधु के लिए साध्वियों के शरीर का स्पर्श किसी भी दशा में निन्दनीय था। आचार्य के लिए भी साध्वी के हाथ का स्पर्श वर्जित था, क्योंकि यह उन्हें कलंकित कर सकता था।[२] स्त्री के अंगों को सराग दृष्टि से देखना भी वर्जित था।[3] यह माना गया था कि वृद्धावस्था को प्राप्त तथा सदा तप में लीन साधु को भी साध्वी का सम्पर्क निन्दा का पात्र बना सकता है।[४]

सम्पर्क के अवसर

इन सारे निषेधों के बावजूद भी भिक्षु-भिक्षुणी का आपस में मिलना सर्वथा निषिद्ध नहीं था। जैन ग्रन्थों में एक दूसरे से मिलने सम्बन्धी मर्यादाएँ भी निश्चित की गई हैं। यद्यपि भिक्षु-भिक्षुणियों को एक साथ एक ही उपाश्रय में रहना सर्वथा निषिद्ध था, किन्तु निम्न विशेष परिस्थितियों में उन्हें एक साथ रहने की अनुमति प्रदान की गई थी।

(क) यात्रा के समय यदि भिक्षु-भिक्षुणी चलते-चलते अगम्य एवं निर्जन अटवी में पहुँच गये हों।

(ख) भिक्षु-भिक्षुणियों को किसी ग्राम या नगर में एक ही उपाश्रय मिला हो।

(ग) यदि उन्हें उपाश्रय न मिला हो और किसी एक ही देवालय आदि में ठहरना अनिवार्य हो गया हो।

(घ) चोरों या दुष्ट व्यक्तियों द्वारा वस्त्र-पात्र आदि के छीनने या चुराने की सम्भावना हो।

(ङ) दुराचारी व्यक्ति यदि साध्वो के साथ बलात्कार करना चाहते हों।[५]

---

१. गच्छाचार, १०९.
२. वही, ८५.
३. वही, ६२.
४. वही, ६४-६५.
५. स्थानांग, ५/४१७.

यही नहीं, कुछ विशेष परिस्थितियों में तो अचेलक (निर्वस्त्र) भिक्षु भी भिक्षुणियों के साथ उपाश्रय में रह सकता था। जैसे—विक्षिप्तचित्त, दृप्तचित्त, यक्षाविष्ट और वातरोग आदि से उन्मत्त भिक्षु के साथ उसकी सहायता के लिए यदि कोई भिक्षु न हो, तो भिक्षुणी उसकी सहायता के लिए रह सकती थी। इसी प्रकार साध्वी के पुत्र के दीक्षित होने के अवसर पर यदि उस समय अन्य कोई साध्वी न हो, तो उसके साथ कोई साधु ठहर सकता था।[1]

आहार के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष परिस्थितियों में छूट दी गयी थी। यदि भिक्षुणी के साथ दुराचारी व्यक्तियों ने बलात्कार किया हो और वह कहीं आने-जाने में असमर्थ हो, तो वह दूसरे भिक्षु-भिक्षुणियों से भोजन पाने की अधिकारिणी थी। संघ की तरफ से दूसरे भिक्षु-भिक्षुणियों को यह निर्देश दिया गया था कि वे उसके लिए भी आहार का प्रबन्ध करें।[2]

वार्तालाप के सम्बन्ध में भी परिस्थितियोंवश नियमों में छूट दी गयी थी। यद्यपि अकेले साधु-साध्वी को आपस में बातचीत करने का निषेध था, परन्तु कुछ अवसरों पर वे ऐसा कर सकते थे—

(क) यदि भिक्षु उपयुक्त मार्ग भूल गया हो, तो किसी भिक्षुणी से रास्ता पूछ सकता है।

(ख) ऐसी ही परिस्थिति में वह भी भिक्षुणी को रास्ता बता सकता है।

(ग) भिक्षु चारों प्रकार का आहार देते समय वार्तालाप कर सकता है।

(घ) इसी तरह वह चारों प्रकार का आहार ग्रहण करते समय बातचीत कर सकता है।[3]

उपर्युक्त आपवादिक स्थितियों में यदि कोई भिक्षु अकेली भिक्षुणी से वार्तालाप करता है, तो उसका यह कार्य जैन संघ के नियमों का अतिक्रमण करना नहीं माना गया था। किन्तु सामान्य अवस्था में यदि भिक्षुणी

---

१. स्थानांग, ५/४१७.
२. बृहत्कल्पभाष्य, भाग चतुर्थ, ४१३५.
३. स्थानांग ४/२९०.

को भिक्षु से बोलना आवश्यक हो, तो उसे यह निर्देश दिया गया था कि वह अपनी मुख्य भिक्षुणी (स्थविरा) को आगे करके थोड़े शब्दों में विनय-पूर्वक बोले या प्रश्न पूछे।[१] वार्तालाप का विषय धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करना होता था। व्यर्थ का वार्तालाप वह नहीं कर सकती थी।

इसी प्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों में भिक्षु भिक्षुणी का स्पर्श एवं उसकी सहायता कर सकता था जो निम्न हैं:—

(क) भिक्षुणी को यदि कोई उन्मत्त पशु या पक्षी मारता हो;

(ख) भिक्षुणी कीचड़ में फँस गई हो और उसमें से निकल न पा रही हो;

(ग) विषम मार्ग में जाने पर यदि भिक्षुणी गिर पड़ी हो;

(घ) भिक्षुणी नाव पर चढ़ने या उतरने में कठिनाई का अनुभव कर रही हो;

(ङ) यदि भिक्षुणी विक्षिप्त चित्त, क्रुद्ध, उन्मत्त, कलह में रत, यक्षाविष्ट हो अथवा पति या दुराचारी व्यक्तियों द्वारा संयम से च्युत की जा रही हो।

उपर्युक्त परिस्थितियों में भिक्षु को भिक्षुणी का स्पर्श करने की अनुमति दी गई थी।[२] इसी प्रकार यदि भिक्षुणी ने कठोर प्रायश्चित्त किया हो, भक्तपान प्रत्याखान (भोजन-पानी का परित्याग करके संथारा ग्रहण) किया हो; अर्थजात से पीड़ित हो, तो भिक्षु भिक्षुणी की सहायता कर सकता था।[३] ऐसा करना संघ की मर्यादा का उल्लंघन नहीं माना जाता था।

संघ के नियमों के अनुसार बीमारी की अवस्था में भी भिक्षु साध्वी द्वारा लायी हुई औषधि को नहीं ग्रहण कर सकता था—परन्तु कुछ परिस्थितियों में इसमें भी छूट दी गयी थी। भिक्षु के पैर में यदि काँटा या तेज लकड़ी धँस जाय, आँख में सूक्ष्म जीव-जन्तु या धूल पड़ जाय और उसे कोई भिक्षु निकाल न सके तो ऐसी स्थिति में किसी चतुर भिक्षुणी द्वारा काँटा निकालना मर्यादा का अतिक्रमण करना नहीं था। ठीक इसी प्रकार यदि कोई भिक्षुणी उक्त बाधाओं से पीड़ित हो और कोई भिक्षुणी

---

२. गच्छाचार, १३०.

३. स्थानांग, ५/४३७.; ६/४७६.

४. बृहत्कल्पसूत्र, ६/७-१८.

उसे दूर करने में समर्थ न हो, तो उसे कोई भी भिक्षु निकाल सकता था[1], ऐसी स्थिति में एक दूसरे के शरीर का स्पर्श उन्हें दण्ड का पात्र नहीं बनाता था। यहाँ तक कि भिक्षु-भिक्षुणी रूग्णावस्था में एक दूसरे के मूत्र का औषधि के रूप में प्रयोग कर सकते थे, यद्यपि सामान्य रूप से उन्हें ऐसा करने की अनुमति नहीं थी।[2]

उपर्युक्त जिन विशेष परिस्थितयों में भिक्षु-भिक्षुणियों को एक दूसरे की सहायता करने का निर्देश दिया गया था—वे अपवाद मार्ग थे, संघ के मूल नियम नहीं। इन अपवाद मार्गों का अवलम्बन इसलिए ग्रहण किया जाता था, ताकि भिक्षु-भिक्षुणियों को अनुचित कष्ट न उठाना पड़े और संघ की मर्यादा भी अक्षुण्ण बनी रहे।

भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य नियमों की समानताओं एवं सैद्धान्तिक उच्चादर्शों के बावजूद भी यह स्पष्ट है कि भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। संघ के नियमों के अनुसार ३ वर्ष का दीक्षित भिक्षु ३० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का उपाध्याय बन सकता था तथा ५ वर्ष का दीक्षित भिक्षु ६० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी का आचार्य बन सकता था।[3] इसके अतिरिक्त संघ में आचार्य एवं उपाध्याय के पद केवल भिक्षुओं के लिए निर्धारित थे और कितनी भी योग्य भिक्षुणी क्यों न हो, वह इन उच्च पदों को धारण नहीं कर सकती थी।

छेदसूत्रों से यह स्पष्ट होता है कि कालान्तर में जैन संघ में "पुरुष-ज्येष्ठधर्म" के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया, जिसके अनुसार भिक्षु भिक्षुणी से प्रत्येक अवस्था में ज्येष्ठ माना गया।[4] १०० वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी को भी सद्यः प्रव्रजित भिक्षु को वन्दना करने का विधान था।[5]

---

१. बृहत्कल्पसूत्र, ६/३–६.

२. वही, ५/४६.

३. व्यवहारसूत्र, ७/१९-२०.

४. "सव्वाहिं संजतीहिं, कितीकम्मं संजताण कायव्वं
पुरिसुत्तरितो धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि"
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग षष्ठ, ६३९९.

५. "अप्यार्यिकाश्चिरदीक्षिता अपि तद्दिनदीक्षितमपि साधुं वन्दन्ते, कृतिकर्म च यथारात्निकं तेऽपि कुर्वन्ति"—वही, भाग षष्ठ, ६३६१–टीका.
"वरिससय दिक्खिआए अज्जाए अज्जादिक्खिओ साहू
अभिगमण वंदण नमसंणेण विणएण सो पुज्जो".
—कल्पसूत्र की कल्पलता टीका में उद्धृत गाथा, पृ० २.

इसी प्रकार उपदेश देने का अधिकार केवल भिक्षु को था। नियमों के अनुसार कोई भिक्षुणी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी। लेकिन अपवादस्वरूप जैन भिक्षुणी राजीमती द्वारा भिक्षु रथनेमि को उपदेश देने का अन्यतम उदाहरण मिलता है[1]। रथनेमि की भोग लिप्सा की प्रवृत्ति को राजीमती ने कड़े शब्दों में फटकारा था। राजीमती के प्रतिबोधात्मक उपदेशों का ही यह परिणाम था कि रथनेमि की आँखे खुल गयीं और उन्होंने शेष जीवन शाश्वत सत्य की खोज में लगाया। इसी प्रकार भिक्षुणी ब्राह्मी एवं सुन्दरी ने भी भिक्षु बाहुबलि को अहंकाररूपी हाथी से नीचे उतरने के लिए उपदेश दिया था, किन्तु इन अपवादों के अतिरिक्त और कोई भिक्षुणी उपदेशक के रूप में नहीं मिलती। इसकी पुष्टि हमें अभिलेखों से भी होती है। अभी तक प्राप्त किसी भी जैन अभिलेख में किसी भिक्षुणी को उपदेशक के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है जबकि हर जगह उपदेशक के रूप में भिक्षु का ही उल्लेख हुआ है।

भिक्षुओं की शिष्याओं के रूप में भिक्षुणियों का उल्लेख सर्वत्र मिलता है, परन्तु एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें कि कोई भिक्षु किसी भिक्षुणी का शिष्य रहा हो (यद्यपि हरिभद्र ने अपने को याकिनीसुनू कहकर गौरवान्वित अनुभव किया है), जबकि भिक्षुणी की शिष्या के रूप में भिक्षुणी का उल्लेख मिलता है। मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख में नन्दा और बलवर्मा की शिष्या के रूप मे अक्का का उल्लेख है।[2]

जैन ग्रन्थों में भिक्षु भिक्षुणियों से सम्बन्धित नियमों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन आगम ग्रन्थों यथा—आचारांग, स्थानांग आदि की अपेक्षा परवर्ती ग्रन्थों गच्छाचार, बृहत्कल्पभाष्य आदि के रचना काल के समय में भिक्षुणिओं के ऊपर भिक्षुओं का और भी अधिक कठोर नियन्त्रण हो गया था। स्थानांग में कुछ विशेष परिस्थितयों में भिक्षु-भिक्षुणियों को परस्पर एक दूसरे की सहायता करने, सेवा करने तथा साथ रहने का भी विधान था, परन्तु गच्छाचार तथा बृहत्कल्पभाष्य के रचनाकाल तक इन सब पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया। हम देखते हैं कि सौ वर्ष की दीक्षित भिक्षुणी को सद्यः-प्रव्रजित भिक्षु को वन्दन आदि करना आवश्यक माना गया तथा 'पुरुष

---

१. उत्तराध्ययन, २२ वाँ अध्याय।

2. List of Brahmi Inscriptions, 48.

ज्येष्ठ-धर्म' के सिद्धान्त को स्वीकार कर सभी भिक्षुणियों को यह निर्देश दिया गया था कि वे भिक्षु की वन्दना-कृतिकर्म आदि करें।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भिक्षुणी की स्थिति

जैनधर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने प्रारम्भ से ही भिक्षुणियों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण का परिचय दिया। इनके अनुसार स्त्री तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती, जब तक वह पुरुष के रूप में पुनः जन्म न ग्रहण कर ले।[1] सुत्तपाहुड के अनुसार वस्त्रधारी पुरुष निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता, भले ही वह तीर्थंकर क्यों न हो।[2] दिगम्बर सम्प्रदाय में निर्वस्त्रता का अति आग्रह रखा गया है इसी तर्क के आधार पर स्त्री-मुक्ति के सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया है, क्योंकि सामाजिक एवं अपनी शारीरिक स्थिति के कारण स्त्रियाँ निर्वस्त्र नहीं रह सकती थीं। इसके अतिरिक्त भी, स्त्रियों के अवगुणों को बड़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। प्रवचनसार में उन्हें अज्ञानी और अधैर्यशील बताया गया है।[3] यह भी कहा गया है कि स्त्रियों का चित्त शुद्ध नहीं होता तथा वे स्वभाव से ही शिथिल होती हैं। प्रत्येक मास उनका रुधिरस्राव होता है जिसके कारण वे निर्भयतापूर्वक एवं एकाग्रचित्त मन से ध्यान नहीं कर सकतीं। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के योनि, स्तनों के बीच में, नाभि, और काँख

---

१. प्रवचनसार, ३/७. इसके विपरीत मूलाचार की एक गाथा से यह स्पष्ट होता है कि साधु के समान साध्वियां भी इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं—

"एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जावो
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति"

—मूलाचार, ४/१९६.

इस गाथा के आधार पर या तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दिगम्बर सम्प्रदाय का एक वर्ग स्त्री-मुक्ति की अवधारणा में विश्वास करता था या यह कि मूलाचार दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ न होकर यापनीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ था।

—द्रष्टव्य, प्राक्कथन, मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन।

२. "ण विसिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ विहोइतित्थयरो"

—सुत्तपाहुड, २३.

३. प्रवचनसार, ३/८-९.

में सूक्ष्म शरीरधारी जीव रहते हैं। इन्हीं कारणों के आधार पर कुछ ग्रन्थों में तो स्त्रियों की दीक्षा का भी निषेध कर दिया गया।[१]

भिक्षु-भिक्षुणी के पारस्परिक मेलजोल के विषय में मूलाचार में काफी सतर्कता बरती गई तथा इस सम्बन्ध में अनेक नियमों का उल्लेख किया गया था। तरुण श्रमण किसी भी परिस्थिति में अकेली तरूणी श्रमणी के साथ वार्तालाप नहीं कर सकता था। यदि भिक्षु इस आज्ञा का उल्लंघन करता था तो वह—आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश एवं संयमविराधना—नामक पाँच दोषों से युक्त माना जाता था।[२] कन्या, विधवा अथवा भिक्षुणी के साथ क्षणमात्र भी वार्तालाप करना निन्दा का कारण बन सकता था।[3] भिक्षु और भिक्षुणी के मध्य वार्ता का विषय धार्मिक प्रश्नों तक ही सीमित रहता था। वे व्यर्थ का वार्तालाप नहीं कर सकते थे। भिक्षुणी यदि कोई प्रश्न पूछने भिक्षु के पास जाती थी तो भिक्षु को वहाँ अकेले रहकर उत्तर देने की आज्ञा नहीं थी, अपितु उसे कुछ अन्य भिक्षुओं के सामने उत्तर देने का निर्देश दिया गया था। परन्तु यदि भिक्षुणी गणिनी को आगे करके प्रश्न पूछती थी, तो भिक्षु अकेले भो प्रश्न का उत्तर दे सकता था।

भिक्षुओं को भिक्षुणियों के उपाश्रय में सोना, अध्ययन करना तथा भोजन करना सर्वथा निषिद्ध था।[४] क्योंकि भिक्षुणी की समीपता से उसके चित्त के चंचल होने को सम्भावना थी। भिक्षुणियों के उपाश्रय में ठहरने वाला भिक्षु लोकनिन्दा तथा व्रतभंग दोनों का पात्र माना गया था।[५]

भिक्षुणियों को भिक्षु की वन्दना आदि करने का विधान था। भिक्षुणियों को यह निर्देश दिया गया था कि वे आचार्य (सूरि) की पाँच हाथ से, उपाध्याय को छः हाथ से, भिक्षु की सात हाथ की दूरी से वन्दना

---

१. "इत्थीसु ण पावया भणिया"—सुत्तपाहुड, २४-२६.
२. मूलाचार, ४/१७९.
३. वही, ४/१८२.
४. वही, ४/१८०.
५. वही, १०/६१-६२.

करे।[1] बहुत दिन की प्रव्रजित भिक्षुणी से सद्यः प्रव्रजित भिक्षु श्रेष्ठ माना गया था।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—दोनों सम्प्रदायों में भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। दोनों सम्प्रदायों में "पुरुषज्येष्ठधर्म" के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। दोनों ही सम्प्रदायों में सद्यः प्रव्रजित भिक्षु चिरप्रव्रजित भिक्षुणी से श्रेष्ठ माना गया था तथा भिक्षुणियों को भिक्षु की वन्दना तथा कृतिकर्म करने का निर्देश दिया गया था।

बौद्ध संघ में भिक्षुणी की स्थिति

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में भी भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टगुरुधर्मों से ही भिक्षु की तुलना में भिक्षुणी की निम्न स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्रथम अष्टगुरुधर्म नियम के अनुसार सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को सद्यः उपसम्पन्न भिक्षु को अभिवादन करना, अंजलि जोड़ना तथा उसके सम्मान में खड़ा होना पड़ता था। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह था कि योग्यता में भिक्षुणी कितनी भी ज्येष्ठ क्यों न हो, उसे प्रत्येक दशा में भिक्षु का सम्मान करना था। इसके विपरीत भिक्षु किसी भी भिक्षुणी के सम्मान में न तो खड़ा हो सकता था और न अंजलि जोड़ सकता था। यदि भिक्षु किसी भिक्षुणी को सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अभिवादन आदि करता था, तो वह दुक्कट के दण्ड का दोषी माना जाता था।[3] यहाँ हम देखते हैं कि योग्यता को बिल्कुल नकार दिया गया था और लिंग के आधार पर ही ज्येष्ठता का निर्धारण किया गया था। बौद्ध संघ में इस अनुचित नियम के विरोध में भिक्षुणियों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया के भी दर्शन होते हैं। अष्टगुरुधर्म स्वीकार कर लेने के उपरान्त महाप्रजापति गौतमी ने बुद्ध से यह अनुमति चाही थी कि भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य अभिवादन-अभ्युत्थान तथा समी-

---

१. मूलाचार, ४/१९५.
२. "बहुकालप्रव्रजिताया अप्यार्यिकाया अद्य प्रव्रजितोऽपि महांस्तथेन्द्रचक्रधरादीनामपि महान् यतोऽतो ज्येष्ठ इति"
—वही, १०/१८—टीका।
३. चुल्लवग्ग, पृ० ३७८.

चीकर्म (कुशल-समाचार पूछना) ज्येष्ठता के अनुसार हो, लिंग के अनुसार नहीं।[१] गौतमी द्वारा उठाया गया यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न था जिसका अत्यन्त दूरगामी प्रभाव पड़ता। लेकिन बुद्ध ने अपनी क्षीरदायिका मौसी के इस तर्क को स्वीकार नहीं किया तथा कठोरतापूर्वक यह नियम बनाया कि अभिवादन-वन्दना आदि भिक्षुणियों को ही करना चाहिए।

उपसम्पदा के उपरान्त भिक्षुणियों को तीन निश्रय तथा आठ अकरणीय धर्म[२] बतलाए जाते थे, भिक्षुओं के लिए चार निश्रय तथा चार अकरणीय थे। ये आठ अकरणीय धर्म पाराजिक प्रायश्चित्त के ही दूसरे नाम थे। पाराजिक बौद्ध संघ का सबसे कठोर दण्ड था। पाराजिक दोष सिद्ध हो जाने पर भिक्षुणी संघ से सर्वदा के लिए निकाल दी जाती थी। वह 'अभिक्खुनी" कहलाती थी। उसकी तुलना सिर कटे हुए व्यक्ति से की गई थी।[३] स्पष्ट है, भिक्षुणियों को अकरणीय धर्म के माध्यम से अधिक कठोर प्रतिबन्ध में रखने की कोशिश की गई।

कुछ परिस्थितियों में भिक्षुणियों को भिक्षु-संघ के साथ रहना आवश्यक माना गया था। अष्टगुरुधर्म नियम के अनुसार भिक्षुणियों को भिक्षु-संघ के साथ ही वर्षावास करने का विधान था।[४] भिक्षुणियों को अकेले यात्रा आदि करना निषिद्ध था। भिक्षुओं का चतुर्थ निश्रय वृक्ष के नीचे निवास करना था, परन्तु भिक्षुणी को वृक्ष के नीचे रहने का निषेध किया गया था। इसी प्रकार उन्हें अरण्य (जंगल) में ठहरने की अनुमति नहीं थी।[५] इसके विपरीत भिक्षु अकेला यात्रा भी कर सकता था तथा अरण्य में भी अकेला रह सकता था।

उपर्युक्त नियम नारी-प्रकृति को ही ध्यान में रखकर बनाये गये थे तथा उसमें भिक्षुणी की चारित्रिक सुरक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण था। भिक्षुणियों को अरण्यवास आदि की आज्ञा देने पर उनके शील-अपहरण आदि का भय था। भिक्षुओं के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी, अतः उन्हें अरण्यवास करने से निषेध नहीं किया गया था, बल्कि उन्हें इस सम्बन्ध

---

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३७८.
२. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय।
३. "सीसच्छिन्नो अभब्बोतेन सरीरबन्धनेन जीवितुम"
—पाचित्तिय पालि, पृ० २८७.
४. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का प्रथम अध्याय।
५. चुल्लवग्ग, पृ० ३९९; भिक्षुणी विनय § २८७.

प्रोत्साहित किया जाता था तथा निश्रय के समय भी इसकी शिक्षा दी जाती थी। भिक्षुणियों के शील की सुरक्षा के उपयुक्त नियम उचित जान पड़ते हैं, क्योंकि वे अपने शील की रक्षा भिक्षु-संघ के साथ रहकर आसानी से कर सकती थीं।

सम्पर्क के अवसर

भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य अति-परिचय बढ़ने से अनेक दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना थी, अतः बौद्ध संघ में भी इसके निराकरण का प्रयत्न किया गया था। संघ में एक साथ रहते हुए यह कदापि सम्भव न था कि भिक्षु-भिक्षुणी परस्पर मिल ही न सकें। संघ के समक्ष भिक्षुणियों की शील-रक्षा का प्रश्न भी था, जिसके कारण संघ उन्हें सर्वथा अकेले रहने की अनुमति नहीं दे सकता था। अतः भिक्षुणियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध का होना अनिवार्य था। परन्तु यह ध्यान दिया गया था कि भिक्षु-भिक्षुणी के सम्बन्ध इतने अधिक घनिष्ठ न हो जायें कि नियमों की अवहेलना होने लगे। संघ की मर्यादा के अन्दर ही उन्हें एक दूसरे से मिलने की अनुमति दी गई थी।

यदि किसी भिक्षुणी, शिक्षमाणा या श्रामणेरी का कोई कार्य हो और वह भिक्षु की सहायता चाहती हो, तो भिक्षु सन्देश मिलने पर सात दिन के लिए वर्षाकाल में भी जा सकता था।[१] इसी तरह भिक्षुणी यदि रोग-ग्रस्त हो, उसका मन संन्यास से हट गया हो (अनभिरति), धर्म में सन्देह पैदा हो गया हो (कक्कुच्चं), मन में बुरी धारणा उत्पन्न हो गयी हो (दिट्ठिगतं), मानत्त का दण्ड लगा हो और वह भिक्षु के पास सहायता के लिए सन्देश भेजे तो भिक्षु को वहाँ जाने की अनुमति थी।[२] इसी प्रकार एक या बहुत सी भिक्षुणियाँ संघ में भेद पैदा करने की कोशिश कर रही हों, तो संघ-भेद रोकने के लिए तथा भिक्षुणियों को वस्तुस्थिति समझाने के लिए भिक्षु भिक्षुणी से व्यक्तिगत रूप से मिलकर अथवा भिक्षुणी-संघ के आवास में जाकर अपने प्रभाव का उपयोग कर सकता था।[३] उसके प्रभाव से यह सम्भव था कि संघ-भेद का प्रयत्न करने वाली भिक्षुणी या भिक्षुणी-समुदाय अपने गर्हित कार्य से विमुख हो जाय।

१. महावग्ग, पृ० १४६.
२. वही, पृ० १४९, १५१-५२.
३. वही, पृ० १५८.

भिक्षुणियाँ भिक्षुओं से अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की याचना भी कर सकती थीं। चुल्लवग्ग[1] में भिक्षुणियों द्वारा भिक्षुओं के पास शय्यासन के लिए सन्देश भेजने का उल्लेख है, क्योंकि भिक्षु-संघ के पास शय्यासन संख्या में अधिक था। भोजन की मात्रा अधिक होने पर भी वे एक दूसरे को दे सकते थे।[2] इसी प्रकार की हुई प्रतिज्ञा आदि की पूर्ति हेतु भी भिक्षु किसी भिक्षुणी को भोजन आदि दे सकता था। चुल्लवग्ग में उल्लेख मिलता है कि एक पिंडचारिक (कोई निमन्त्रण न स्वीकार कर सदा भिक्षा माँगकर भोजन करने वाला) भिक्षु ने प्रतिज्ञा की थी कि वह प्रथम प्राप्त भिक्षा को किसी भिक्षु या भिक्षुणी को दिये बिना नहीं ग्रहण करेगा और उसने वह भिक्षा एक भिक्षुणी को प्रदान की थी।[3] भोजन की तरह वस्त्र भी भिक्षु-भिक्षुणी परस्पर एक दूसरे को प्रदान कर सकते थे।

परन्तु कोई भिक्षु किसी भिक्षुणी से अपने वस्त्रों को न तो धुलवा सकता था और न रँगवा ही सकता था।[4] किसी भिक्षुणी के वस्त्र को सीने अथवा उसमें सहयोग देने पर भिक्षु पाचित्तिय दण्ड का दोषी समझा जाता था।[5] यहाँ भिक्षुणी से तात्पर्य अज्ञातिका भिक्षुणी से है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऐसी भिक्षुणी जिसका भिक्षु से उसके पिता या माता की ओर से सात पीढ़ी के भीतर तक कोई सम्बन्ध न हो, अज्ञातिका भिक्षुणी कहलाती है।[6]

इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी कुछ मर्यादाएँ थीं, जिनका उन्हें पालन करना पड़ता था। कभी-कभी कुछ भिक्षु-भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ हो जाते थे। हमें साहित्यिक तथा आभिलेखिक-दोनों साक्ष्यों से भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों का उल्लेख मिलता है। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि कभी-कभी एक ही परिवार के सदस्य (पति, पत्नी, भाई, बहन आदि) एक साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, इसलिए पूर्व गृहस्थ-जीवन के सम्बन्धों के कारण उनमें एक दूसरे के प्रति घनिष्ठता बनी रहती थी। धम्मपद

१. चुल्लवग्ग, पृ० ३९०.
२. वही, पृ० ३९०
३. वही, पृ० ३८८-८९.
४. पातिमोक्ख, भिक्खु निस्सग्गिय पाचित्तिय, ४,५,१७.
५. वही, भिक्खु पाचित्तिय, २६.
६. सांकृत्यायन, राहुल "विनय पिटक" हिन्दी अनुवाद, पृ० १७.

अट्ठकथा[1] में उल्लेख है कि एक भिक्षु-भिक्षुणी सदैव एक साथ बैठकर गप्प मारा करते थे। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पहले गृहस्थ-जीवन में वे पति-पत्नी थे तथा प्रव्रज्या के बाद भी उसी सम्बन्ध के आधार पर गप्प मारा करते थे—ऐसी प्रवृत्तियों की बुद्ध ने निन्दा की थी। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय में भिक्षु-भिक्षुणी के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध की एक मनोरंजक सूचना मिलती है।[2] भिक्षु मोलिय फग्गुण के सामने यदि कोई भिक्षुणियों की निन्दा करता था तो वे अप्रसन्न हो जाते थे तथा कलह भी कर लेते थे। इसी प्रकार भिक्षुणियाँ भी अपने सामने मोलिय फग्गुण की बुराई नहीं सुन सकती थीं तथा वे भी असन्तुष्ट हो संघ के समक्ष अधिकरण (कलह) करने लगती थीं। इस सम्बन्ध में बुद्ध ने स्वयं मोलिय फग्गुण को उपदेश दिया था कि उन्हें अपने अन्दर राग का दमन करना चाहिए।

हम अभिलेखों में भिक्षु-भिक्षुणियों को साथ-साथ दान देते हुये पाते हैं। अमरावती से प्राप्त एक बौद्ध अभिलेख (Amaravati Buddhist Sculpture Inscription) में एक चेतियवंदक भिक्षु-भिक्षुणी (जो गृहस्थ-जीवन में भाई-बहन थे) द्वारा एक साथ दान देने का उल्लेख है।[3] यहाँ हम देखते हैं कि प्रव्रज्या के पश्चात् भी भाई-बहन की घनिष्ठता एकदम से समाप्त नहीं हो जाती थी। इसी प्रकार अमरावती[4] से प्राप्त एक अन्य अभिलेख में भी भिक्षु-भिक्षुणी के साथ-साथ दान देने का उल्लेख है। अमरावती[5] से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख में आर्य बुद्धरक्षित की अन्तेवासिनी भिक्षुणी नन्दा तथा अन्तेवासिक भिक्षु क्षुद्र आर्यक के एक साथ दान देने का उल्लेख है। अमरावती[6] के ही एक अन्य अभिलेख में दो भिक्षुणियों के दान का उल्लेख है, जो पूर्व गृहस्थ-जीवन में माता एवं पुत्री थीं। प्रव्रज्या के बाद भी उनका सम्बन्ध यथावत बना रहा। महापण्डित सारिपुत्र के साथ उनकी तीनों बहनों चाला, उपचाला तथा शिशू-

---

१. धम्मपद, १६/१.
२. मज्झिम निकाय, १/२१.
3. List of Brahmi Inscriptions, 1223.
4. Ibid, 1295.
5. Ibid, 1280.
6. Ibid, 1262.

पचाला—के प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख सर्वविदित ही हैं। इस प्रकार, अनेक प्रतिबन्धों के बावजूद कुछ भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध विकसित हो जाते थे।

इसके अतिरिक्त, भिक्षु-भिक्षुणियों के नामों के पहले अथवा बाद में प्रयुक्त विशेषणों से भी भिक्षुणी की निम्न स्थिति की सूचना मिलती है। बौद्ध भिक्षुणी के लिए ग्रन्थों में भिक्खुनी, आर्या तथा थेरी (महाथेरी) शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें भी थेरी अथवा महाथेरी शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। केवल महावंस में हम अनेक स्थलों पर संघमित्रा के लिए "थेरी" शब्द का प्रयोग देखते हैं। जहाँ तक अभिलेखों का सम्बन्ध है, भिक्षुणियों के लिए "थेरी" शब्द का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। बहुशः भिक्खुनी, अन्तेवासिनी तथा पर्वजिता आदि शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। केवल कन्हेरी बौद्ध गुफा अभिलेख[1] (Kanheri Buddhist Cave Inscription) तथा अमरावती बौद्ध प्रतिमा अभिलेख[2] (Amaravati Buddhist Sculpture Inscription) में भिक्षुणियों के लिए क्रमशः "थेरी" तथा "भदन्ती" शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि इसके विपरीत भिक्षुओं के लिए प्रायः प्रत्येक अवसर पर "थेर भदन्त" "भदन्त' अथवा "थेर" शब्द का प्रयोग हुआ है। एक अन्तर और द्रष्टव्य है। भिक्षुओं के लिए अधिकतर "थेर भदन्त" शब्द एक साथ प्रयुक्त हुआ है, जबकि भिक्षुणियों के लिए ऐसा कहीं नहीं है। उनके लिए "थेरी" तथा "भदन्ती" शब्द अलग-अलग ही प्रयुक्त हुए हैं। अभिलेखों में प्रयुक्त ये शब्द भिक्षुणी की तुलना में भिक्षु की श्रेष्ठता के सूचक हैं। इसके अतिरिक्त अभिलेखों में भिक्षुओं की शिष्याओं के रूप में भिक्षुणियों के उल्लेख हैं जिनके लिए अन्तेवासिनी शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] एक भिक्षु की एकाधिक अन्तेवासिनियों के भी उल्लेख हैं।[4] इस प्रकार भिक्षुओं की अपनी शिष्या तथा अन्तेवासिनी हुआ करती थीं। यद्यपि अभिलेखों में कहीं-कहीं भिक्षुणियों की भी शिष्याओं के उल्लेख हैं, जैसे कुदा बौद्ध गुफा अभिलेख[5] (Kuda Buddhist Cave Inscription) में लोहिता एवं विष्णुका

---

1. List of Brahmi Inscriptions, 1006.
2. Ibid, 1240.
3. Ibid, 1020, 1107, 1128, 1280, 1286.
4. Ibid, 1060.
5. Ibid, 1060.

की अन्तेवासिनी बोधि का उल्लेख है। परन्तु कहीं भी किसी भिक्षुणी के शिष्य के रूप में किसी भिक्षु का उल्लेख नहीं मिलता—यह स्पष्ट रूप से भिक्षु की श्रेष्ठता का द्योतक है। कोई पुरुष किसी स्त्री का शिष्य नहीं हो सकता था। यद्यपि अमरावती से प्राप्त एक अभिलेख (Amaravati Buddhist Stone Inscription) में एक भिक्षुणी के लिए उपाध्यायिनी[१] (उवझायिनी) शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु उपर्युक्त तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह केवल भिक्षुणियों की ही उपाध्यायिनी होती थी—भिक्षु समुदाय की नहीं।

इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भिक्षु की अपेक्षा भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। बौद्ध धर्म का उच्चतम बुद्ध-पद भिक्षुणियाँ नहीं प्राप्त कर सकती थीं। अंगुत्तर निकाय[२] के अनुसार इस बात की थोड़ी भी सम्भावना नहीं है कि स्त्रियाँ सम्यक् सम्बुद्ध हो सकती हैं। इस उच्चतम पद को केवल पुरुष ही प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार भिक्षुणियों को बुद्धपद की प्राप्ति की आशा से ही विहीन कर दिया गया। बुद्ध ने किसी भी भिक्षुणी को इतनी महत्ता नहीं प्रदान की थी जितनी कि सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन को। बुद्ध के अनुसार वे किसी सारवान बड़े वृक्ष की सबसे बड़ी शाखा थे, जिनके न रहने पर भिक्षु-संघ सूना-सूना मालूम पड़ता था।[३] इसके अतिरिक्त, बौद्ध धर्म की जितनी भी संगीतियाँ हुईं, सबका अध्यक्ष कोई न कोई भिक्षु ही हुआ—कोई भी भिक्षुणी अध्यक्ष पद को सुशोभित न कर सकी, यद्यपि ज्ञान एवं विद्यार्जन के क्षेत्र में वे भिक्षुओं से किसी भी प्रकार कम नहीं थीं।

भिक्षुणी योग्य होते हुये भी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी। उपदेश देने का अधिकार केवल भिक्षु को ही था। भिक्खुनी पाचित्तिय नियम के अनुसार उन्हें प्रत्येक १५वें दिन उपोसथ की तिथि तथा उवाद (उपदेश) का समय पूछना पड़ता था। इस प्रकार केवल लिंग के आधार पर भिक्षुणियों को उपदेश देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त उपसम्पदा प्रवारणा, उपोसथ आदि के सम्बन्ध में हम देखते हैं

---

1. List of Brahmi Inscriptions, 1286.
२. अङ्गुत्तर निकाय, १।१५.
३. संयुत्त निकाय, ४५।२।३; ४५।२।४.

कि भिक्षुणियों को भिक्षुसंघ के समक्ष ये सारे कार्य करने आवश्यक थे। इसके विपरीत, भिक्षु केवल भिक्षु-संघ के प्रति ही उत्तरदायी रहता था— भिक्षुणी-संघ से उसका इस सन्दर्भ में कोई सम्बन्ध नहीं था।

परन्तु उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि बौद्ध भिक्षुणियाँ अत्यन्त निम्न जीवन जीती थीं। यद्यपि भिक्षु की तुलना में उनकी स्थिति निम्न थी, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संघ की वे एक सम्मानित सदस्या होती थीं। ज्ञान के क्षेत्र में भी वे अग्रणीं थीं। कोशल नरेश प्रसेनजित का भिक्षुणी क्षेमा से दार्शनिक वार्तालाप तथा श्रावक विशाख का धम्मदिन्ना से दार्शनिक शंकाओं का समाधान प्राप्त करना यह दर्शाता है कि वे गूढ़ दर्शन के क्षेत्र में पारंगत थीं तथा कुशलतापूर्वक किसी भी गंभीर विषय पर वार्तालाप कर सकती थीं। अभिलेखों में भी उन्हें त्रिपिटका तथा सूतातिकिनी कहा गया है, जो उनकी विद्वत्ता का परिचायक है। इसी प्रकार शुक्ला भिक्षुणी द्वारा महती सभा में अमृतमय धर्मोपदेश देने का उल्लेख है।[1] राजा-महाराजा एवं बड़े-बड़े राजकीय अधिकारो तक उनको प्रणाम करने एवं उनका अभिनन्दन करने में अपना गौरव समझते थे। कोशल नरेश प्रसेनजित द्वारा भिक्षुणी क्षेमा का सम्मानपूर्वक अभिवादन करना यह दिखाता है कि राजा लोग योग्य भिक्षुणी का अपेक्षित सम्मान करते थे। जिस प्रकार भिक्षु के सम्मान में स्तूप आदि निर्मित हुए, उसी प्रकार भिक्षुणियों के सम्मान में भी कालांतर में स्तूप आदि निर्मित किये गये। कोशल में महाप्रजापति गौतमी के सम्मानार्थ बने हुये स्तूप एवं उसके निकट विहार का उल्लेख फाहियान[2] एवं ह्वेनसांग[3] दोनों ने किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि भिक्षु की तुलना में निम्न स्थिति होने के बावजूद बौद्ध संघ में भिक्षुणियों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

तुलना : दोनों ही धर्मों में जाति, लिंग, वर्ण आदि का भेद किये बिना पुरुष और स्त्री की समानता पर बल दिया गया था, परन्तु इनकी संगठनात्मक व्यवस्था पर तत्कालीन सामाजिक मूल्यों का गहरा प्रभाव पड़ा है। जातककालीन भारतीय समाज में तथा बाद के युग में भी पुरुष की तुलना में स्त्री का स्थान निम्न था। इस सामाजिक स्थिति का प्रभाव

१. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ का चतुर्थ अध्याय।
२. Buddhist Records of the Western World, Vol. I, P. 25.
३. Ibid, Vol. III. P. 260.

श्रमण परम्परा के जैन एवं बौद्ध धर्मों की संगठनात्मक व्यवस्था पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

दोनों धर्मों में सद्यः प्रव्रजित भिक्षु को चिर-प्रव्रजित भिक्षुणी से श्रेष्ठ माना गया था तथा इसी आधार पर भिक्षुणी को भिक्षु की वन्दना तथा अभिवादन आदि करने का निर्देश दिया गया था। दोनों धर्मों में संगठनात्मक व्यवस्था के सर्वोच्च पद भिक्षु के लिए ही सुरक्षित थे। दोनों धर्मों में भिक्षुणी योग्य होते हुए भी किसी भिक्षु को उपदेश नहीं दे सकती थी। जैन धर्म में राजीमती द्वारा भिक्षु रथनेमि को तथा ब्राह्मी एवं सुन्दरी द्वारा भिक्षु बाहुबलि को उपदेश देने का आपवादिक उदाहरण प्राप्त होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्यिक अथवा आभिलेखिक साक्ष्य में किसी भिक्षुणी को भिक्षु के उपदेशक के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। भिक्षुणियाँ केवल गृहस्थजनों को ही धर्मोपदेश दे सकती थीं। इसके अतिरिक्त दोनों धर्मों में भिक्षु की शिष्याओं के रूप में भिक्षुणियों के उल्लेख हैं, परन्तु भिक्षुणी के शिष्य के रूप में किसी भिक्षु का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

जैन एवं बौद्ध—दोनों धर्मों के भिक्षु-भिक्षुणी सम्बन्धों का सम्यक् अनुशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि दोनों संघों में भिक्षु की अपेक्षाकृत भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी यद्यपि समाज में उसे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था।

●

अष्टम अध्याय

भिक्षुणी-संघ का विकास एवं ह्रास

जैन भिक्षुणी-संघ का विकास एवं ह्रास

जैन भिक्षुणी-संघ के विकास का इतिहास जैन धर्म के विकास के इतिहास से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। कैवल्यज्ञान के पश्चात् महावीर धर्म-प्रचारार्थ लगभग ३० वर्षों तक निरन्तर भ्रमण करते रहे। उनके भ्रमण-क्षेत्र में मुख्यतः उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग, अधिकांश बिहार एवं बंगाल के पश्चिमी जिले सम्मिलित थे। चम्पा (भागलपुर), वैशाली, राजगृह, मिथिला, काशी, कोशल (श्रावस्ती), कौशाम्बी, पावा आदि प्रदेशों में उन्होंने अपना वर्षावास व्यतीत किया था। इन स्थलों में जैन भिक्षु एवं भिक्षुणी-संघ का भी प्रसार हुआ होगा—यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

प्रारम्भिक काल में उपर्युक्त क्षेत्रों में ही जैन धर्म का प्रसार था, इसका समर्थन उन जैन ग्रन्थों के आधार पर भी होता है, जिनमें यात्रा आदि के सम्बन्ध में भिक्षु-भिक्षुणियों को कुछ नदियों तथा नगरों की सीमा का अतिक्रमण करने का निषेध किया गया था।

बृहत्कल्पसूत्र[1] के अनुसार भिक्षु-भिक्षुणियों को भिक्षा-वृत्ति अथवा यात्रा के लिए पूर्व में अंग-मगध तक, पश्चिम में स्थूण देश (स्थानेश्वर) तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक तथा उत्तर में कुणाल देश (श्रावस्ती) तक जाने की अनुमति थी। बृहत्कल्पसूत्र[2] में ही पाँच महानदियों गंगा, यमुना, सरयू, कोशिका तथा मही–का उल्लेख है। इन नदियों को पार कर कभी-कभी तो आने-जाने की अनुमति दी गयी थी—पर इन्हें कई बार पार करना निषिद्ध था; कालान्तर में भाष्यकार ने महानदी से तात्पर्य सिन्धु एवं ब्रह्मपुत्र जैसी बड़ी नदियों से भी लगाया है। इससे स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल तक जैन धर्म इतने ही क्षेत्रों तक सीमित था। भिक्षु-भिक्षुणियों को इस सीमा के भीतर ही यात्रा आदि

---

१. बृहत्कल्पसूत्र, १/५२.
२. वही, ४/३४.

करने का निर्देश निश्चय ही उनकी सुविधाओं को ध्यान में रखकर दिया गया था। इस मर्यादित क्षेत्र में भोजन-पान की सुलभता थी तथा यहाँ के रहने वाले लोग भी जैन धर्म के आचार-विचार से परिचित थे। इस सीमा का अतिक्रमण करने पर उन्हें असुविधा हो सकती थी। अतः जैसे-जैसे जैन धर्म का प्रभाव विस्तृत होता गया, भिक्षु-भिक्षुणियों की यात्रा की क्षेत्रीय सीमा का भी विस्तार होता गया। बृहत्कल्पभाष्य[1] में भिक्षु-भिक्षुणियों को २५½ देशों में यात्रा करने की अनुमति दी गयी है। ये देश आर्य-क्षेत्र माने जाते थे, जिनमें मगध, अंग, बंग, कलिंग, काशी कोशल, कुरु, पांचाल, (काँम्पिल्य) सौर्य, जांगल (अहिच्छत्र), सौराष्ट्र, विदेह, वत्स (कौशाम्बी), संडिब्भ (नन्दिपुर), वच्छ (वैराट), मलय (भद्दिलपुर), अच्छ (वरणा), दशार्ण, चेदि, सिन्धु-सौवीर, भृंग (पावा), कुणाल (श्रावस्ती), कोटिवर्ष (लाढ़) और केकय-अर्ध हैं। स्पष्ट है कि भाष्य के रचना-काल तक जैन धर्म का प्रसार विस्तृत क्षेत्र में हो चुका था। अब यह सीमा बढ़कर पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर, पूर्व में लाढ़ (बंगाल-असम) तक, उत्तर में विदेह (नेपाल की सीमा) से लेकर दक्षिण में उड़ीसा तक पहुँच गयी थी।

अभिलेखों से भी उपर्युक्त क्षेत्रों में जैन धर्म के प्रसार की पुष्टि होती है। द्वितीय एवं प्रथम शती ईस्वी पूर्व में मथुरा जैन धर्म के एक प्रमख केन्द्र के रूप में विकसित हुआ। वहाँ से प्राप्त अभिलेखों[2] में अनेक जैन भिक्षुणियों को दान देते हुए दिखाया गया है। अधिकांश अभिलेख प्रथम शताब्दी ईस्वी अर्थात् कनिष्क के काल के हैं। स्पष्ट है कि इस समय तक उत्तरी भारत में जैन धर्म का प्रभाव फैल चुका था। मगध जैन धर्म का प्रसिद्ध स्थल था। अनुश्रुति के अनुसार मगध नरेश बिम्बिसार तथा उसके उत्तराधिकारी अजातशत्रु के साथ महावीर के घनिष्ठ सम्बन्ध थे। नन्द राजा भी जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होते हैं। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व के हाथीगुम्फा अभिलेख से यह पता चलता है कि कलिंग (उड़ीसा) की एक जिन-प्रतिमा को नन्दराजा कलिंग से ले गया था।[3]

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, ३२६३.

2. List of Brahmi Inscriptions, 16, 18, 24, 32, 39, 48, 50, 70, 75, 86, 99, 117, 121, etc...

3. Epigraphia Indica, Vol. 20, P. 72.

हाथीगुम्फा अभिलेख से ही कलिंग (उड़ीसा) में चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व में जैन धर्म के वर्तमान होंने की सूचना मिलती है । यह शिलालेख "नमो अरहंतानं नमो सवसिधानं" से प्रारम्भ होता है। अभिलेख को उत्कीर्ण कराने वाले कलिंग नरेश खारवेल के ३०० वर्ष पूर्व नन्दराजा कलिंग से जिन प्रतिमा ले गया था। इसमें किसी जैन भिक्षुणी का नामोल्लेख नहीं हैं, परन्तु इस क्षेत्र में जैन धर्म के प्रसार की पुष्टि होतो है।

उज्जयिनी भी जैन धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। बृहत्कल्पभाष्यकार के अनुसार अशोक का पौत्र सम्प्रति जैनधर्मावलम्वी था। सम्प्रति ने मालवा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों पर राज्य किया था। यह बताया जाता है कि अपने पितामह की नीति का अनुसरण करते हुए उसने अन्द (आन्ध्र), दमिल (द्रविड़) तथा महरट्ट (महाराष्ट्र) आदि राज्यों में धार्मिक प्रचार किया।[1] कालकाचार्य तथा उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल को कथा[2] से भी उज्जयिनी में जैन धर्म के प्रचार की पुष्टि होती है। यह भिक्षुणियों का भी केन्द्र था, क्योंकि उज्जयिनी के ही राजा गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की भिक्षुणी बहन सरस्वती का अपहरण किया था।

द्वितीय शताब्दी ईस्वी के जूनागढ़ (काठियावाड़) के एक अभिलेख[3] से वहाँ जैन धर्म के प्रचार की पुष्टि होती है। इस अभिलेख में कुछ व्यक्तियों को केवलज्ञान से युक्त (केवलज्ञानप्राप्तानाम्) बताया गया है।

दक्षिण भारत में भी ईसा पूर्व की शताब्दियों में जैन धर्म के प्रचार की पुष्टि होती है। जैन अनुश्रुति के अनुसार मगध का सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य जैन मुनि भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत गया था। श्रवणवेलगोल के पास स्थित चन्द्रगिरी पर्वत को इसी सम्राट से सम्बद्ध किया जाता है। उत्तर भारत के भयंकर अकाल से बचने के लिए चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व में दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान करना इसका संकेत करता है कि उसके भी पूर्व दक्षिण भारत में जैन धर्म का कुछ न कुछ प्रचार अवश्य हो गया था। इसकी पुष्टि बौद्ध ग्रन्थों से भी होती है। सिंहली ग्रन्थ महावस के अनुसार पाण्डुगाभय राजा ने अनुराधपुर नामक राजधानी में

---

१. बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, ३२७५-८९.
२. निशीथ विशेष चूर्णि, २७६०.
3. Epigraphia Indica, Vol. 16, P. 241.

कुछ भवनों का निर्माण निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए किया था।[१] यह राजा अशोक के बहुत पूर्व हुआ था। इतने प्राचीन काल में श्रीलंका में जैन धर्म का प्रचार यह द्योतित करता है कि उस समय तक अवश्य ही जैन धर्म दक्षिण भारत में पहुँच चुका था। सम्भवतया श्रीलंका में जैन धर्म का प्रसार दक्षिण भारत होता हुआ ही गया होगा। परन्तु दक्षिण भारत में कोई पुराना आभिलेखिक साक्ष्य नहीं प्राप्त होता। सबसे प्रथम श्रवणबेलगोल के शिलालेख प्राप्त होते हैं, जो ६०० ईस्वी के पूर्व के नहीं हैं। बादामी के चालुक्यों के समय दक्षिण भारत में जैन धर्म का व्यापक प्रसार हुआ। इसकी पुष्टि कोल्हापुर से प्राप्त ताम्रपत्रों तथा ऐहोल, धारवाण आदि से प्राप्त शिलालेखों से होती है, जिनमें जैन मन्दिरों के निर्माण तथा उनकी समुचित व्यवस्था के लिए भूमिन्दान के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[२]

इस प्रकार जैन धर्म का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर फैलता हुआ दिखायी पड़ता है, परन्तु अपने इस विस्तार में वह एकीकृत धर्म नहीं रह गया था, अपितु कई गणों, गच्छों में विभाजित हो गया था। मथुरा से प्राप्त जैन अभिलेखों में भिक्षु-भिक्षुणियों के विभिन्न गणों एवं कुलों का उल्लेख है—यथा

१. आर्या जीवा वारणगण, आर्यहात्तकीय कुल, वार्जनागरी शाखा की थी।[३]

२. आर्या क्षुद्रा कोट्टिय गण, ब्रह्मदासिक कुल, उच्चैर्नागरी शाखा की थी।[४]

३. आर्या वसुला मैघिक कुल की थी।[५]

४. आर्या अक्का वारण गण, आर्य हात्तकीय कुल, वार्जनागरी शाखा, श्रीक सम्भोग की थी।[६]

---

१. महावसं, १०/९७-१००.
2. Rastrakuta And Their Times, P. 272-74.
3. List of Brahmi Inscriptions, 67, 99.
4. Ibid, 18.
5. Ibid, 70.
6. Ibid, 48.

५. आर्या धामथा कोट्टिय गण, स्थानीय कुल, वज्री शाखा की थी।[१]

६. आर्या सादिता वारण गण, नादिक कुल की थी।[२]

७. आर्या श्यामा कोट्टिय गण, ब्रह्मदासिक कुल उच्चैर्नागरी शाखा, श्रीक सम्भोग की थी।[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शताब्दी ईस्वी में ही जैन-भिक्षुणियाँ विभिन्न गणों में विभाजित हो गई थीं। गण भी कई कुलों तथा शाखाओं में बँट गये थे।

साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों से जैन धर्म के भिक्षु तथा भिक्षुणी-संघ के सम्बन्ध में ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे यह स्पष्टतया सूचना मिलती है कि जैन संघ १२०० ईस्वी तथा उसके पश्चात् भी फलता-फूलता रहा। दक्षिण भारत के अभिलेखों में भिक्षुणियों के समाधि-मरण तथा दान के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैसे :—

१–अजिगण की साध्वी राजीमती शक संवत् ६२२ (७०० ई०) में समाधिमरण को प्राप्त हुई।[४]

२–शिष्या नाणब्बेकन्ति शक संवत् ८९३ में समाधिमरण को प्राप्त हुई।[५]

३–साध्वी कालब्बे शक संवत् ११२६ (१२१४ ई०) में समाधिमरण को प्राप्त हुई।[६]

उत्तर भारत में भी जैन भिक्षुणी-संघ की निरन्तरता की सूचना मिलती है।

१—खरतगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य जिनेश्वर सूरि का समय विक्रम संवत् १०८० (१०२३ ई०) माना जाता है। इनके गच्छ में मरुदेवी नामक आर्या गणिनी का उल्लेख मिलता है "मरुदेवी नाम अज्जा गणिणी"।[७]

२—जिनदत्त सूरि, जिन्होंने विक्रम संवत् ११४१ में दीक्षा ग्रहण की थी, के गच्छ में १००० साध्वियों का उल्लेख मिलता है।[८]

1. List of Brahmi Inscriptions, 75.
2. Ibid, 117.
3. Ibid, 121.
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग प्रथम, पृ० ३१७.
५. वही, भाग द्वितीय, पृ० १९७.
६. वही, भाग प्रथम, पृ० ३७९.
७. खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० १२.
८. खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० १०.

३—विक्रम संवत् १२१४ में दीक्षा ग्रहण करने वाले जिनचन्द्र सूरि के गच्छ में होमदेवी नामक भिक्षुणी को प्रवर्त्तिनी पद देने का उल्लेख है। इसके साथ ही जग श्री सरस्वती, गुण श्री आदि साध्वियों के उल्लेख हैं।[1]

४—इसी प्रकार खरतरगच्छ के ही जिनेश्वर सूरि (विक्रम संवत् १२५५ में दीक्षा ग्रहण) के समय हेमश्री नामक महत्तरा का उल्लेख है।[2]

५—विक्रम संवत् १३४७ में दीक्षा ग्रहण करने वाले जिनकुशल सूरि के गच्छ में १०५ साध्वियों के उल्लेख हैं।[3]

६—विक्रम संवत् १३८९ में आचार्य जिनोदय सूरि ने अपनी बहन किल्हू के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[4]

इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण भारत में १२०० ईस्वी तथा उसके पश्चात् भी जैन भिक्षुणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जैन भिक्षुणियों का अस्तित्व आज भी है और आश्चर्यजनक रूप से उनकी संख्या जैन भिक्षुओं से कहीं ज्यादा है।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ का विकास एवं ह्रास

बौद्ध भिक्षुणी-संघ के विकास का इतिहास भी बौद्ध धर्म के विकास के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अनुकूल परिस्थितियों के कारण बौद्ध धर्म का जैसे-जैसे विस्तार बढ़ता गया, बौद्ध भिक्षुणी-संघ का प्रसार भी फैलता गया। महात्मा बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के बाद ४५ वर्षों तक इतस्ततः परिभ्रमण करके धर्मोपदेश के माध्यम से बौद्ध धर्म की नींव को अत्यन्त मजबूत बना दिया था।

यद्यपि बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना भिक्षु-संघ की स्थापना के बाद और वह भी सन्देहशील वातावरण में हुई थी; परन्तु कुछ समय के अनन्तर ही यह बौद्ध संघ का एक आवश्यक अंग हो गया और बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार में इसने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

---

१. खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम खण्ड पृ० ४४-४५.

२. वही, प्रथम खण्ड, पृ० १०८.

३. खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० ३०.

४. खरतरगच्छ का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० १८२.

द्वितीय बौद्ध संगीति के बाद बौद्ध धर्म एक एकीकृत (अखण्ड) धर्म के रूप में नहीं रह गया था, अपितु कई निकायों में विभाजित हो गया था। बाद में विभाजित बौद्ध धर्म का चित्र ही हमारे समाने उपस्थित होता है। तृतीय शताब्दो ईसा पूर्व अर्थात् सम्राट अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में विकसित हुए १८ निकायों का पता चलता है। अतः हम कह सकते हैं कि वास्तविक अर्थों में बाद के बौद्ध धर्म का इतिहास निकायों का इतिहास है। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुणी-संघ का विकास भी उन्हीं बौद्ध निकायों का विकास है, जिसकी वे सदस्या थीं। यद्यपि किसी भिक्षुणी के किसी विशेष निकाय के संघ में प्रविष्ट होने अथवा उसका सदस्य बनने का उल्लेख नहीं मिलता। भिक्षु के सन्दर्भ में ही उसके किसी विशिष्ट निकाय के सदस्य होने का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों से प्राप्त भिक्षुणियों से सम्बन्धित अभिलेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे उस स्थान पर विकसित निकाय की सदस्याएँ थीं।

भारतभर में बिखरे हुए अभिलेखों के प्राप्ति-स्थल एवं ग्रन्थों विशेषकर-थेरीगाथा की अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) के माध्यम से बौद्ध भिक्षुणी-संघ के प्रसार को देखा जा सकता है। अभिलेखों में भिक्षुणियों द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है। अतः जिन स्थानों पर भिक्षुणियों के दानों का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ भिक्षुणियाँ अथवा उनका कोई छोटा या बड़ा संघ अवश्य रहा होगा—यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

उत्तर भारत में प्रसार

उत्तर भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव अत्यन्त प्रबल था। बुद्ध द्वारा व्यतीत किये हुए वर्षावासों से प्रतीत होता है कि उनका विचरण स्थल भी मुख्य रूप से इन्हीं क्षेत्रों में था। सारनाथ, कौशाम्बी, कोशल (श्रावस्ती) वैशाली, मगध, चम्पा, राजगृह, मथुरा, कपिलवस्तु, बोध गया आदि वे महत्त्वपूर्ण स्थल थे, जहाँ उनके जीवनकाल में ही बौद्ध धर्म अत्यन्त प्रभावशाली हो गया था और उसी के साथ ही भिक्षुणी-संघ भी एक महत्त्वपूर्ण घटक के रूप में विद्यमान था। तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व में अशोक ने तथा प्रथम शताब्दी ईस्वी में कुषाण कनिष्क ने बौद्ध धर्म के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। लगभग इसी समय से प्राप्त अभिलेखों से हमें बौद्ध धर्म की व्यापकता की सूचना मिलती है।

साँची,[१] सारनाथ,[२] कौशाम्बी[3] एवं भाब्रू[४] (जयपुर के पास वैराट) में प्राप्त अशोक के अभिलेखों में उत्कीर्ण "भिक्षुणी" तथा "भिक्षुणी-संघ" शब्द यह स्पष्ट द्योतित करता है कि तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व के समय तक ये स्थल भिक्षुणी-केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुके थे। साँची, सारनाथ एवं कौशाम्बी के अभिलेखों में बौद्ध संघ में भेद पैदा करने वाले भिक्षु-भिक्षुणियों को चेतावनी दी गयी है। भाब्रू अभिलेख में भिक्षु-भिक्षुणियों को कुछ पुस्तकें पढ़ने एवं उन पर मनन करने की सलाह दी गयी है। सारनाथ परवर्ती काल में भी एक प्रसिद्ध भिक्षुणी-केन्द्र के रूप में बना रहा; सारनाथ सम्मितिय निकाय का प्रसिद्ध केन्द्र था। प्रथम शताब्दी ईस्वी (शक संवत्, ८१) के एक लेख[५] में भिक्षुणी बुद्ध-मित्रा को "त्रैपिटिका" कहा गया है, जो अपने आचार्य बल के समान तीनों पिटकों में पारंगत थी। सम्भवतः यह भिक्षुणियों की शिक्षा का भी महान केन्द्र था।

उत्तर भारत में श्रावस्ती बौद्ध भिक्षुणियों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थल था। यहीं सेठ अनाथपिण्डिक का प्रसिद्ध जेतवन विहार था जहाँ बुद्ध प्रायः विश्राम किया करते थे। बुद्ध ने सबसे अधिक वर्षावास यहीं व्यतीत किया था। श्रावस्ती (आज का सहेठ-महेठ) कोशल का प्रमुख शहर था। बुद्धकालीन कोशल नरेश प्रसेनजित के साथ ही भिक्षुणी क्षेमा का प्रसिद्ध दार्शनिक वार्तालाप हुआ था।[६] भिक्षुणी क्षेमा ने नरेश के गम्भीर दार्शनिक प्रश्नों का विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया था। श्रावस्ती में ही भिक्षुणियों का प्रसिद्ध राजकाराम विहार था। सम्भवतः प्रसेनजित ने गौतमी महाप्रजापति के लिए एक विहार बनवाया था, जिसके भग्न खण्ड-हरों को फाहियान[७] तथा ह्वेनसांग[८] दोनों ने देखा था। ह्वेनसांग यहाँ

---

1. Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I. P. 160.
2. Ibid, P. 161.
3. Ibid, P. 159.
4. Ibid, P. 172.
5. List of Brahmi Inscriptions, 925.
६. संयुत्त निकाय, ४२/१.
7. Buddhist Records of the Western World, Vol. I, p. 25.
8. Ibid, Vol III, P. 260.

सम्मित्तिय निकाय का उल्लेख करता है। अभिलेखों[1] में यहाँ सर्वास्तिवादी आचार्यों का उल्लेख है।

बौद्ध धार्मिक स्थलों में कपिलवस्तु का अपना एक अलग महत्त्व था। यह बुद्ध की जन्मस्थली थी। बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना का सर्वप्रथम प्रयास गौतमी महाप्रजापति ने यहीं पर किया था। परन्तु बुद्ध ने उसकी प्रथम प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया था। जिस न्यग्रोध वृक्ष के नीचे पूर्व की ओर मुंह करके बैठे हुये बुद्ध के समक्ष संघाटी लिये हुये गौतमी उपस्थित हुई थी—उसी स्थल पर इस घटना की स्मृति के लिए एक स्तम्भ (टावर) बना हुआ था, जिसको चतुर्थ शताब्दी ईस्वी में फाहियान[2] ने देखा था।

बौद्ध भिक्षुणियों के लिए वैशाली भी एक महत्त्वपूर्ण स्थल था। वैशाली में ही स्थविर आनन्द के प्रयास के फलस्वरूप बुद्ध ने भिक्षुणी-संघ की स्थापना की स्वीकृति प्रदान की थी। बौद्ध भिक्षुणी आम्रपाली ने बुद्ध को यहीं पर दान दिया था। वहीं पर निर्मित एक स्तम्भ का उल्लेख फाहियान[3] तथा ह्वेनसांग[4] दोनों ने किया है।

मथुरा भी बौद्ध भिक्षुणियों का एक प्रमुख स्थल था। अभिलेखों से पता चलता है कि यह जैन धर्म का भी प्रमुख केन्द्र था। यही कारण है कि यहाँ दोनों धर्म एक दूसरे से प्रभावित लगते हैं। उदाहरणस्वरूप—मथुरा से प्राप्त दो जैन अभिलेखों में भिक्षुणियों को "अन्तेवासिनी"[5] कहा गया है तथा देवरिया से प्राप्त एक बौद्ध अभिलेख[6] में एक बौद्ध भिक्षुणी को "शिशिनी" कहा गया है, जबकि सामान्य रूप से जैन भिक्षुणियों को "शिशिनी" कहने की प्रवृत्ति थी। यहाँ आनन्द की स्मृति में एक स्तम्भ बना हुआ था, जहाँ भिक्षुणियाँ उन्हें सम्मान प्रदर्शित करती थीं। क्योंकि वह आनन्द ही थे जिनके प्रयास से भिक्षुणियाँ बौद्ध संघ में दीक्षित हुयी थीं।[7]

---

1. List of Brahmi Inscriptions, 918, 919.
2. Buddhist Records of the Western World, Vol. I, P. 29.
3. Ibid, Vol, 1, P. 32.
4. Ibid, Vol, III P. 309.
5. List of Brahmi Inscriptions, 67, 99.
6. Ibid, 910.
7. Buddhist Records of the Western World, Vol, I, P. 22.

पश्चिम भारत में प्रसार

पश्चिम भारत में भी बौद्ध भिक्षुणियों का प्रसार प्रथम शताब्दी ईस्वी तक पूर्ण हो चुका था। कन्हेरी, कार्ले, भाजा, कुदा, नासिक, जुन्नार आदि से प्राप्त अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि ये स्थल भिक्षुणियों के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में कई शतियों तक वर्तमान रहे। कन्हेरी से प्राप्त एक अभिलेख[1] में एक भिक्षुणी को "थेरी" कहा गया है। यह विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी भी अन्य अभिलेख में हम भिक्षुणी के लिए "थेरी" शब्द नहीं पाते। अभिलेखों में थेर, थेर भदन्त अथवा भदन्त का सम्मानसूचक विशेषण केवल भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। कन्हेरी में भद्रायणीय निकाय के आचार्य थे।

जुन्नार भी भिक्षुणियों का प्रमुख स्थल था। यहाँ धर्मोत्तरीय शाखा (थेरवादी निकाय) के भिक्षुणी-विहार बनवाये जाने का उल्लेख है।[2] सम्भवतः श्रावस्ती के राजकाराम विहार के समान यहाँ भी भिक्षुणियाँ स्थायी रूप से निवास करती थीं।

दक्षिण भारत में प्रसार

बौद्ध भिक्षुणियों का दक्षिण भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध स्थल अमरावती था। इसका विकास सातवाहनों के युग अर्थात् लगभग द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ हुआ था जो कई शताब्दियों तक चलता रहा। यह चेतियवन्दक (महासांघिक) निकाय का प्रसिद्ध केन्द्र था। अमरावती व्यापारिक दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण स्थल था। यहाँ भिक्षुणियों द्वारा दिये गये दानों की एक लम्बी सूची मिलती है। यहाँ से प्राप्त भिक्षुणियों से सम्बन्धित कुछ अन्य तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ एक भिक्षुणी बोधि को "भदन्ती"[3] विशेषण से सम्बोधित किया गया है जो कन्हेरी के "थेरी" शब्द के समान ही महत्त्वपूर्ण है। भिक्षुणी के लिए "भदन्ती" शब्द का प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। यह क्षेत्र शिक्षा का भी एक प्रमुख केन्द्र था। विनयधर आर्य पुनर्वसु की शिष्या समुद्रिका का उल्लेख है जिसे "उपाध्यायिनी"[4] कहा गया है। स्पष्ट है कि भिक्षुणियाँ विद्या के क्षेत्र में

1. List of Brahmi Inscriptions, 1006.
2. Ibid, 1171.
3. Ibid, 1240.
4. Ibid, 1286.

अग्रणी थीं और सम्भवतः अध्यापन भी कर सकती थीं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत के किसी भी अभिलेख में किसी भिक्षुणी को "उपाध्यायिनी" नहीं कहा गया है, जबकि कुछ भिक्षुणियों को "त्रेपिटिका"[1] तथा कुछ को "सूतातिकिनी"[2] कहा गया है अर्थात् वे तीनों पिटकों तथा सूत्रों में पारंगत थीं। अमरावती से ही प्राप्त एक अभिलेख में एक भिक्षुणी बुद्धरक्षिता को "नवकम्मक"[3] कहा गया है जो विहारों आदि के निर्माण का कार्य करती थी अथवा उनके निर्माण में सहयोग प्रदान करती थी।

सम्भवतः अमरावती में बौद्ध भिक्षुणियाँ अधिक लोकप्रिय थीं। दान देने के सन्दर्भ में आश्चर्यजनक रूप से भिक्षुणियों की संख्या भिक्षुओं से कहीं ज्यादा है। यहाँ एक भिक्षु-भिक्षुणी के साथ-साथ दान देने का उल्लेख है जो संघ में प्रवेश लेने के पहले भाई-बहन थे।[4]

दक्षिण भारत में नागार्जुनीकोण्डा भी बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध स्थल था। अमरावती एवं नागार्जुनीकोण्डा दोनों नगर कृष्णा नदी के तट पर बसे हुए थे और इनके बीच की दूरी १०० कि० मी० से अधिक नहीं थी। पर यह आश्चर्यजनक सा प्रतीत होता है कि वहाँ से प्राप्त किसी भी अभिलेख में किसी भिक्षुणी का उल्लेख नहीं मिलता है जबकि इच्छ्वाकु नरेश की रानियों तथा अन्य उपासिकाओं द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वितीय-प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक सम्पूर्ण भारत में बौद्ध धर्म एवं उसके साथ ही भिक्षुणी-संघ का प्रसार हो चुका था। अभिलेखों एवं ग्रंथों से देखा जाये तो तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर तृतीय शताब्दी ईस्वी तक का काल बौद्ध भिक्षुणी-संघ का स्वर्ण काल था। निश्चय ही बौद्ध भिक्षुणी-संघ अपनी स्थापना के प्रारम्भिक दिनों में तथा बाद के कुछ समय तक अपने सैद्धान्तिक तथा नैतिक नियमों की श्रेष्ठता के कारण महती विकास को प्राप्त हुआ।

परन्तु इसके पश्चात् भिक्षुणी-संघ का धीरे-धीरे ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के पश्चात् साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों में भिक्षुणियों तथा उनसे सम्बन्धित उल्लेखों में कमी होनी

1. List of Brahmi Inscriptions, 319.
2. Ibid, 38.
3. Ibid, 1250.
4. Ibid, 1223.

प्रारम्भ हो जाती है। इस सम्बन्ध में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का कथन है कि भिक्षुणी-संघ चौथी शताब्दी तक समाप्त हो गया था।[१] परन्तु उनके इस मत से सहमत होना कठिन है। बौद्ध भिक्षुणियों के अस्तित्व की सूचना ७वीं-८वीं शताब्दी तक प्राप्त होती है।

पाँचवीं शती में तथा सातवीं शती के प्रारम्भ तथा अन्त में आने वाले चीनी यात्रियों ने देश में बौद्ध भिक्षुणियों का उल्लेख किया है। फाहियान[२] तथा ह्वेनसांग[3] दोनों ने मथुरा में स्थविर आनन्द के स्तूप को बौद्ध भिक्षुणियों द्वारा पूजा करते हुए देखा था। इसी प्रकार सातवीं शती के अन्त में आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग ने बौद्ध भिक्षुणियों की उपस्थिति का प्रमाण दिया है। इत्सिंग को अपने देश (चीन) की भिक्षुणियों तथा भारत की भिक्षुणियों के मध्य कुछ भिन्नता दिखायी पड़ी थी।[४] इत्सिंग का वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय तक अभी बौद्ध भिक्षुणियों का अस्तित्व था।

इसके अतिरिक्त सातवीं-आठवीं शतो में रचित संस्कृत साहित्य से भी बौद्ध भिक्षुणियों की सूचना मिलती है। सातवीं शताब्दी (हर्ष का राज्यकाल) में बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित में बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने की सूचना मिलती है। राज्यश्री ताम्बूलवाहिनी पत्रलता से हर्ष के पास सन्देश भिजवाती है कि उसे काषाय वस्त्र धारण करने की अनुज्ञा दी जाये "अतः काषाय ग्रहणाभ्यनुज्ञयानु गृह्यतामयम् पुण्य-

---

1. Nunneries had gone out of vogue by the 4th century A. D. Chinese piligrims of the 5th and 7th century A. D. do not refer to them at all.

—Education in Ancient India., p. 220.

2. The Bhikshunis principally hononr the tower of Anand, because it was Anand who requested the lord of the world to let women take orders.

--Buddhist Records of the Western World, Vol I, P. 22

3. Ibid, Vol. II, P. 213.
4. "Nuns in India are very different from those of China. They support themselves by begging food, and live a poor and simple life"

Takakuru—A Record of the Buddhist Practices, p. 80.

—Epigraphia Indica. Vol. 25, p. 34.

भाजनम् ।" इसके उत्तर में हर्षवर्द्धन कहता है कि जब मैं कार्य समाप्त कर लूँगा, तब तुम दोनों काषाय वस्त्र पहनेंगे। "इयं तु ग्रहीष्यति मयेव समं समाप्तकृत्येन काषायणि ।"[1] यहाँ "काषाय" वस्त्र धारण करने से तात्पर्य बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणी होने से है। हर्षचरित में आचार्य दिवाकर मित्र को जिनके सद्प्रयत्नों से राज्यश्री का पता लगा था, काषाय वस्त्र धारण किये हुये बौद्ध भिक्षु के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आठवीं शताब्दी में भवभूति ने अपने मालतीमाधव नामक नाटक में सौगत परिव्राजिका कामन्दकी का उल्लेख किया है। उसकी तीन शिष्याएँ भी थीं जिनके नाम अवलोकिता, बुद्धरक्षिता तथा सौदामिनी हैं। इसी प्रकार सुबन्धु (जिनका समय कुछ विद्वान हर्ष के पूर्व तथा कुछ पश्चात् बताते हैं) ने अपने वासवदत्ता नामक ग्रन्थ में एक बौद्ध भिक्षुणी का वर्णन किया है। वह भिक्षुणी लाल वस्त्र (काषाय) धारण करने वाली तथा तारा की भक्त बतायी गयी है।

उपर्युक्त उदाहरणों से आठवीं शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने की सूचना प्राप्त होती है। आठवीं शताब्दी के पश्चात् कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं हैं जो बौद्ध भिक्षुणियों के वर्तमान होने की सूचना दे। यह सम्भव है कि इसके पश्चात् भी छिट-पुट कुछ भिक्षुणियाँ रही हों, पर उनके सम्बन्ध में हमें कोई भी साक्ष्य प्राप्त नहीं होता है। अतः भारत में बौद्ध भिक्षुणियों के अस्तित्व की यही अन्तिम सीमा मानी जा सकती है।

बौद्ध भिक्षुणी-संघ का ह्रास

बौद्ध भिक्षुणी-संघ के ह्रास की प्रक्रिया तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईस्वी से ही प्रारम्भ हो जाती है। चतुर्थ शताब्दी ईस्वी में आने वाले चीनी यात्री फाहियान ने केवल मथुरा में भिक्षुणियों का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने प्रायः पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया था। ह्वेनसांग ने विहारों तथा उनमें रहने वाले भिक्षुओं का जो विस्तृत विवरण दिया है—उससे यह स्पष्ट होता है कि समूह के रूप में उस समय केवल मथुरा में ही कुछ बौद्ध भिक्षुणियों का अस्तित्व रह गया था। ह्वेनसांग के विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि श्रावस्ती एवं कपिलवस्तु (जो भिक्षुणियों के प्रमुख केन्द्र थे) के विहार पूरी तरह

---

१. हर्षचरित-अष्टम उच्छ्वास।

नष्ट हो चुके थे।[1] लगभग इसी समय के अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों में भिक्षुणियों की अत्यल्प सूचना से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध भिक्षुणियाँ अब छिट-पुट ही रह गयी थीं तथा संघ एवं समाज में अब उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं रह गई थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि नारियाँ भिक्षुणी संघों में प्रवेश की अब उतनी इच्छुक नहीं थीं। प्रारम्भिक काल में भिक्षुणी-संघ का सबसे प्रमुख योगदान ऐसी नारियों को आश्रय प्रदान करना था जिनके पति, पिता या भाई प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे अथवा उनकी मृत्यु हो जाती थी। ऐसी स्त्रियाँ निराश्रित हो जाती थीं तथा समाज में उनके लिए अपेक्षित स्थान नहीं रह जाता था।

परवर्तीकाल में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति यद्यपि निम्न ही थी परन्तु स्त्रियों को अब सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए जाने लगे थे।[2] द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईस्वी के धर्मशास्त्रकारों ने स्त्रियों को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रदान किए और उनकी सुरक्षा तथा जीवन-निर्वाह के सम्बन्ध में विभिन्न नियम बनाए। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार स्त्री और बालक किसी भी स्थिति में उपहार की वस्तु नहीं हो सकते।[3] वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार पति अपने पत्नी की समुचित व्यवस्था किए बिना दूर-यात्रा पर नहीं निकल सकता था। यदि पुरुष दूसरा विवाह करता था, तो उसे अपनी प्रथम पत्नी के जीवन-निर्वाह की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती थी।[4]

इसी प्रकार कालान्तर में स्त्री-धन के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। मनु ने स्त्रीधन के ६ प्रकार बताया है। १-२-३. पिता-माता-भाई के द्वारा दिया गया धन, ४. पति के द्वारा दिया गया धन, ५-६. विवाह के समय पितागृह में प्राप्त उपहार तथा पतिगृह में प्राप्त उपहार।[5]

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो जाने पर संरक्षक के न रहने पर भी स्त्रियों के सामने जीवन-निर्वाह की अब उतनी कठिन समस्या नहीं रह गई, अतः जब स्त्री को सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो गई

1. Buddhist Records of the Western World, Vol. III, P. 259, 268.
2. Position of Women in Hindu Civilization, p. 252.
३. याज्ञवल्क्य स्मृति, २/१७५।
४. वशिष्ठ धर्मसूत्र, २८/२।
५. मनुस्मृति, ९/१९४।

तो संघ में प्रवेश करने का अब उतना आकर्षण नहीं रह गया। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय-तृतीय शताब्दी के पश्चात् बहुत कम नारियाँ संघ में प्रवेश लेती थीं।

परवर्तीकाल में बौद्ध भिक्षुणियाँ सुप्रतिष्ठित नियमों के प्रतिकूल आचरण करने लगी थीं। मालतीमाधव में कामन्दकी, अवलोकिता और बुद्धरक्षिता के वर्णन से उनके आचारिक पतन की सूचना प्राप्त होती है। मालती तथा माधव का विवाह कराने में भिक्षुणी कामन्दकी के उत्साह को देखकर उसकी शिष्या अवलोकिता को आश्चर्य होता है।[1] अवलोकिता कहती है कि भोजन के समय को छोड़कर कामन्दकी का सारा समय मालती का अनुसरण करने में बीत जाता है।[2] इसी प्रकार भिक्षुणी बुद्धरक्षिता संन्यास जीवन में भी कामशास्त्र के ज्ञान का उपयोग करती है तथा प्रेमी-युगल के कामभाव को उत्तेजित करती है।

भिक्खुनी-पातिमोक्ख नियम के अनुसार दिव्य-शक्ति का प्रदर्शन अपराध था।[3] परन्तु मालतीमाधव में बौद्ध भिक्षुणियाँ दिव्य शक्ति का प्रदर्शन कर प्रेमी युगल को परस्पर मिलवाने का कार्य करती हैं। यह सम्भव है कि ये उल्लेख विरोधी पक्ष द्वारा प्रस्तुत होने के कारण कुछ अतिरेकपूर्ण हों।

भिक्खुनी पातिमोक्ख नियम के अनुसार चोरनी या अपराधिनी नारी को उपसम्पदा देना निषिद्ध था।[4] संघ में प्रवेश करने के पश्चात अपराधिनी नारी दण्ड से मुक्त हो जाती थी। श्रावस्ती की एक स्त्री का उदाहरण प्राप्त होता है जिसने पर पुरुष से व्यभिचार किया। उसका पति जब उसको मारने को उद्धत हुआ तो उसने भिक्षुणी-संघ में प्रवेश ले लिया। पति ने जब कोशल-नरेश से शिकायत की तो उन्होंने उत्तर दिया कि चूँकि वह भिक्षुणी बन गई है, अतः उसे कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता।[5] यह उदाहरण भिक्षुणी-संघ की स्थापना के प्रारम्भिक काल का है। कालान्तर

---

१. माल्तीमाधव, प्रथम अध्याय।

२. जो कोविकालो भअवदीए पिण्डपारण वेलं विसज्जिअ मालदीं अणुवट्ट माणाएँ। —वही, तृतीय अध्याय।

३. पातिमोक्ख, भिक्खुनी पाचित्तिय, १०४।

४. वही, भिक्खुनी संघादिसेस, २।

५. "भिक्खुनीसु पब्बजिता न सा लब्भा किंची कातुं"
—पाचित्तिय पालि, पृ० ३०१।

में भी अपराधिनी नारियाँ दण्ड से बचने के लिए संघ में प्रवेश लेती रही होंगी। ऐसी भिक्षुणियों ने निश्चय ही संघ में शिथिलाचार को बढ़ावा दिया होगा।

भिक्षु और भिक्षुणी तथा उपासक और भिक्षुणी के पारस्परिक सम्बन्धों ने भी बौद्ध संघ में शिथिलाचार (अनाचार) को बढ़ावा दिया। भिक्षु मोलिय फग्गुण तथा भिक्षुणियों के गहरे सम्बन्धों के कारण ही बुद्ध ने मोलिय फग्गुण को अपने अन्दर राग का दमन करने का उपदेश दिया था।[१] इसी प्रकार भिक्षु मल्लपुत्र दब्ब पर भिक्षुणी मेत्रिया के साथ मैथुन करने का आरोप लगाया गया था।[२] श्रावस्ती के उदायी भिक्षु तथा एक भिक्षुणी के परस्पर निर्वस्त्र बैठने तथा गुप्तांगों को वासनापूर्वक देखने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[३] इसी प्रकार भिक्षुणी सुन्दरीनन्दा तथा उपासक साल्ह मिगारनत्ता के परस्पर संसर्ग का उदाहरण द्रष्टव्य है जिससे सुन्दरीनन्दा गर्भिणी हो गई थी।[४]

बौद्ध भिक्षुणियों की इन आचारिक कमजोरियों के कारण उनके पतन की प्रक्रिया में और तेजी आयी होगी, क्योंकि इससे वे सामान्य जनों की सहानुभूति एवं श्रद्धा खोती जा रही थीं।

इसके अतिरिक्त विहारों की स्थापना के कारण गृहस्थ-उपासकों से उनका सम्बन्ध हटता गया। सातवीं शताब्दी में ही हम देखते हैं कि श्रावस्ती एवं कपिलवस्तु जैसे प्रसिद्ध स्थलों के विहार नष्ट हो चुके थे। विहारों के पतन के साथ ही बौद्ध धर्म भी पतन को प्राप्त हो रहा था। १२वीं शताब्दी ईस्वी में बख्तियार खिलजी के आक्रमण तथा नालन्दा महाविहार के नष्ट-भ्रष्ट कर दिये जाने के पश्चात् बौद्ध धर्म पुनः विकसित न हो सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष से बौद्ध धर्म लगभग १२वीं शताब्दी ईस्वी में समाप्त प्रायः हो गया। किन्तु इसके पूर्व ही बौद्ध भिक्षुणी-संघ का अस्तित्व लुप्त हो चुका था।

जैन भिक्षुणी-संघ बौद्ध भिक्षुणी-संघ की अपेक्षा प्राचीनतर था। यद्यपि इन दोनों धर्मों का प्रचार एवं प्रसार साथ-साथ ही हुआ था। फिर भी

---

१. मज्झिम निकाय, १/४४।
२. पाराजिक पालि, पृ० २५०।
३. वही, पृ० २९९।
४. पाचित्तिय पालि, पृ० २८४, २८९।

साथ ही विकसित दो धर्मों में से एक का सर्वथा नष्ट (लोप) हो जाना कुछ आश्चर्य में डाल देता है। फलतः उन कारणों पर विचार करना आवश्यक है, जिनसे बौद्ध भिक्षुणी-संघ का पतन हुआ। लेकिन ठीक उन्हीं परिस्थितियों में जैन भिक्षुणी-संघ अपने अस्तित्व को बचाये रख सका। इन कारणों का विश्लेषण करना इसलिए भी आवश्यक है कि जिस बौद्ध भिक्षुणी-संघ में नारियाँ इतनी बड़ी संख्या में श्रद्धा एवं विश्वास के साथ प्रविष्ट हुयीं, वह अपने उद्भव के सहस्र वर्ष के अन्दर ही क्यों समाप्त हो गया ?

बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना सन्देहपूर्ण वातावरण में हुई थी। इसके संस्थापक बुद्ध ने स्वयं संघ में नारियों के प्रवेश के कारण पूरे धर्म के भविष्य के प्रति निराशाजनक भविष्यवाणी की थी।[1] बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना में सहयोग देने के कारण स्थविर आनन्द को प्रथम बौद्ध संगीति में दुक्कट का दण्ड दिया गया था।[2] इसका स्पष्ट अर्थ था कि बौद्धाचार्य भिक्षुणी-संघ की स्थापना के प्रति अनिच्छुक थे। परवर्ती काल के बौद्धाचार्यों ने भिक्षुणियों के प्रति और अधिक कठोर रुख अपनाया और उनके हर कृत्य को संदेह की दृष्टि से देखा।[3] ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति जो निरन्तर विकसित हो रही थी, किसी भी धर्म या संघ के विकास के लिए उपयुक्त नहीं मानी जा सकती। इसके विपरीत जैन भिक्षुणी-संघ की स्थापना या भिक्षुणियों की स्थिति के सम्बन्ध में कोई सन्देह व्यक्त नहीं किया गया। बुद्ध के ही समकालीन महावीर ने जैन भिक्षुणियों के प्रति कोई संशय नहीं व्यक्त किया था। जैन भिक्षुणियों को निरन्तर जैनाचार्यों द्वारा प्रोत्साहन मिलता रहा।

जैन भिक्षु-भिक्षुणियों का अपने धर्म के श्रावक-श्राविकाओं से अटूट सम्बन्ध था। भोजन, वस्त्र आदि की गवेषणा के लिए उन्हें प्रतिदिन श्रावकों

---

१. "सचे, आनन्द नालभिस्स मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बज्जं, चिरट्ठितिकं, आनन्द, ब्रह्मचरियं अभविस्स, वस्ससहस्सं सद्धम्मो तिट्ठेय्य। यतो च खो, आनन्द, मातुगामो तथागतप्पवेदिते धम्मविनये अगारस्मा अनगारियं पब्बजितो, न दानि, आनन्द, ब्रह्मचरियं चिरट्ठितिकं भविस्सति। पञ्चेव दानि, आनन्द, वस्ससतानि सद्धम्मो ठस्सति।"

—चुल्लवग्ग, पृ० ३७६-७७; भिक्षुणी विनय [१२।

२. वही, पृ० ४११।

3. Women under Primitive Buddhism, P. 105.

के यहाँ जाना पड़ता था। जैन संघ के इस नियम में परवर्ती काल में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बौद्ध संघ में भी भिक्षु-भिक्षुणियों को यद्यपि उपासकों के यहाँ से ही भोजन, वस्त्र आदि ग्रहण करने का विधान किया गया था, परन्तु प्रारम्भिक काल से ही हम इस नियम में परिवर्तन देखते हैं। बुद्ध ने स्वयं भिक्षु-भिक्षुणियों को निमन्त्रित भोज में जाने की अनुमति दी थी। कालान्तर में यह प्रक्रिया और विकसित हुई तथा भिक्षु-भिक्षुणियों के आहार आदि का प्रबन्ध भी विहारों में होने लगा। वस्त्र आदि भी एक साथ बड़ी मात्रा में प्राप्त होने लगे। इसके फलस्वरूप बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों का गृहस्थ उपासक तथा उपासिकाओं से सम्बन्ध दूर होता गया। इसके विपरीत जैन धर्म का परवर्ती काल में भी गृहस्थों से सम्बन्ध अटूट बना रहा। परवर्ती काल के अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। धारवाड़ से प्राप्त ९०३ ईस्वी के एक लेख में वैश्यजाति के एक पुत्र द्वारा मन्दिर बनवाकर भूमिदान देने का उल्लेख है।[१] कर्नाटक से प्राप्त १०६० ईस्वी के एक अन्य अभिलेख से स्पष्ट होता है कि निर्वद्य नामक एक गृहस्थ ने एक जिनालय खड़ा किया था तथा उसकी व्यवस्था के लिए समुचित प्रबन्ध किया था।[२] शक संवत् १११८ के हलेबीड अभिलेख से यह सूचना प्राप्त होती है कि शान्तिनाथ बसति के दान की रक्षा कोरडुकेरे के किसानों और गाँव के ६० कुटुम्बों ने की थी।[३] जैनधर्म के श्रावक संघ के महत्त्वपूर्ण अंग थे। भिक्षु-समुदाय की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर रहता था। इसी कारण जैन धर्म के भिक्षु-भिक्षुणी सांसारिक झंझटों से दूर रहे तथा धार्मिक नियमों का कठोरता से पालन कर सके। इसके विपरीत बौद्ध धर्म में उपासक वर्ग का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था, धीरे-धीरे बौद्ध धर्म के भिक्षु-भिक्षुणियों का उपासक-वर्ग से सम्पर्क टूटता गया। जैन धर्म की निरन्तरता तथा बौद्ध धर्म के ह्रास का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण था।[४] बौद्ध धर्म के विहारों के पतन

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग द्वितीय, पृ० १५८।

२. वही, पृ० २३४।

३. वही, पृ० २३०-२३१।

4. "It is evident that the lay part of the community were not regarded as outsiders, as seems to have been the case in early Buddhism; their position was, from the beginning, well defined by religious duties and privileges; the bond which united them to the order of monks was an effective one...

के पश्चात् फिर उनके उद्धार का कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त जैन धर्म की निरन्तरता का एक कारण बदलती हुई परिस्थितियों से समझौता करना भी था। प्राचीन नियमों को आधारभूत मानते हुए भी समय के अनुकूल जैन आचार्यों ने नवीन आचर संहिताएँ प्रदान की। इसके विपरीत बौद्ध भिक्षु समाज से पृथक् रहे तथा निरन्तर बदलती हुई सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति उदासीन रहे। वे कुछ विहारों में सिमट कर रह गये थे तथा अपने चरित्र को भी सुदृढ़ नहीं रख सके। यही कारण था कि प्रतिकूल परिस्थितियों में जब उन्हें विहारों को छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा, समाज के बहुसंख्यक वर्ग ने कोई सहानुभूति नहीं प्रदर्शित की।

•

---

the state of a laymen was one preliminary and, in many cases preparatory to the state of monk; in the latter respect, however, a change seems to have come about, in so far as now and for some time past, the order of monks is recruited chiefly from novices entering it at an early age not from laymen in general. It can not be doubted that this close union between laymen and monks brought about by the similarity of their religious duties differing not in kind, but in degree has enabled Jainism to avoid fundamental changes within and to resist dangers from without for more than two thousand years, while Buddhism, being less exacting as regards the laymen underwent the most extra-ordinary evolutions and finally disappeared altogether in the country of its origin".—Jocobi, H., Jainism, Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. VII, p. 470.

नवम अध्याय

उपसंहार

जैन एवं बौद्ध—दोनों धर्मों का उद्भव प्रायः एक ही काल एवं परिस्थिति में हुआ था तथा दोनों के विकास का काल भी एक ही था। यही प्रमुख कारण था कि श्रमण-परम्परा के अनुयायी इन दोनों धर्मों में काफी अंशों में समानता थी। कुछ अन्तर भी थे, परन्तु वे केवल वैचारिक भिन्नता के कारण थे। जैन धर्म आचार की अति कठोरता में विश्वास करता था जबकि बौद्ध धर्म मध्यममार्गानुयायी था। दोनों धर्मों के भिक्षुणी-संघों के तुलनात्मक अध्ययन से भी हमें यही सत्य दृष्टिगोचर होता है।

जैन एवं बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना के पूर्व भारत में किसी सुव्यवस्थित भिक्षुणी-संघ का अस्तित्व नहीं था, यद्यपि ऐसी स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो वनों में निवास करतीं थीं तथा तप एवं संयम का जीवन व्यतीत करती थीं। इन संन्यासिनी स्त्रियों के कुछ व्रत-नियम अवश्य थे जिनका वे पालन करती थीं। सम्भवतः उन्हीं परम्परागत नियमों के आधार पर महावीर एवं बुद्ध ने अपने-अपने भिक्षुणी-संघ के नियम बनाए।

जैन एवं बौद्ध धर्म के भिक्षुणी-संघ में स्त्रियों के प्रवेश के प्रायः समान कारण थे। दोनों संघों में संघ-व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए शारीरिक तथा मानसिक रूप से अयोग्य स्त्री का प्रवेश वर्जित कर दिया गया था। इसी प्रकार दोनों संघों में नपुंसकों को दीक्षा देना सर्वथा निषिद्ध था। आहार, वस्त्र तथा यात्रा आदि के सम्बन्ध में नियमों में बहुत कुछ समानता थी। भिक्षुणियों को शुद्ध तथा सात्विक आहार ही ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। आहार तथा वस्त्र प्राप्त करने में विशेष सतर्कता बरती जाती थी। वस्त्र के रंग के सम्बन्ध में अन्तर अवश्य द्रष्टव्य है। जैन भिक्षुणियाँ श्वेत वस्त्र धारण करती थीं जबकि बौद्ध भिक्षुणियाँ काषाय। दोनों संघों में भिक्षुणियों को भ्रमण करने का निर्देश दिया गया था। वर्षाकाल में उन्हें एक ही स्थान पर ठहरने का निर्देश था। इन नियमों को जितनी सतर्कता से पालन करने का निर्देश

जैन भिक्षुणियों को दिया गया था, उतनी सतर्कता का निर्देश बौद्ध भिक्षुणियों को नहीं दिया गया था। उदाहरणस्वरूप—जैन भिक्षुणियों को आहार की शुद्धता परखने तथा उसे ग्रहण करने के ४७ नियम थे। वस्त्र प्राप्त करने के सम्बन्ध में भी वे बौद्ध भिक्षुणियों की अपेक्षा अधिक सतर्कता का पालन करती थीं।

दोनों संघों में भिक्षुणियाँ अध्ययन के प्रति गहरी रुचि रखती थीं। ऐसी अनेक भिक्षुणियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो आगम ग्रन्थों तथा त्रिपिटकों में निष्णात होती थीं। दिन का अधिकांश समय ध्यान, तप तथा स्वाध्याय में ही व्यतीत होता था।

दोनों संघों में भिक्षुणियों की सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था की गई थी। एक स्त्री जब भिक्षुणी बन जाती थी तो उसकी सुरक्षा का पूरा उत्तरदायित्व संघ वहन करता था। भिक्षुणियों को काम-वासना के आनन्द से विरत रहने को कहा गया था। मैथुन का सेवन करने पर उनके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। इसी प्रकार सुन्दर दीखने के लिए अपने को आभूषण तथा माला से सजाना सर्वथा निषिद्ध था। भिक्षुणियों के शील-सुरक्षार्थ ही उन्हें भिक्षुओं के साथ रहने की सलाह दी गई थी तथा भिक्षुओं को यह भी निर्देश दिया गया था कि वे भिक्षुणी की रक्षा करें।

जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में भिक्षु की अपेक्षा भिक्षुणी की स्थिति निम्न थी। प्रत्येक भिक्षुणी को चाहे वह कितनी भी योग्य एवं ज्येष्ठ हो—हर अवस्था में भिक्षु का सम्मान करना पड़ता था। संगठनात्मक व्यवस्था में भी सर्वोच्च पद भिक्षु के लिए सुरक्षित थे।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जैन एवं बौद्ध धर्म के भिक्षुणियों के नियमों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं था तथा उनकी स्थिति भी प्रायः समान थी।

जैन एवं बौद्ध धर्म में भिक्षुणी-संघ की स्थापना उन नारियों के लिए एक वरदान सिद्ध हुई जो समाज से किसी प्रकार संत्रस्त थीं। ऐसी अनेक नारियाँ थीं जिनकी शारीरिक रचना की विद्रूपता के कारण विवाह नहीं हो पाता था। नारी की अत्यधिक सुन्दरता भी उसके संरक्षक के लिए एक समस्या थी। सुन्दर कन्या को पाने के लिए अनेक व्यक्ति इच्छुक रहते थे जिससे माता-पिता को यह निर्णय करना कठिन हो जाता था कि वे उस कन्या को किस व्यक्ति-विशेष को दें। बहुत सी ऐसी नारियाँ थीं जो बाल-विधवा थीं अथवा जिनके विवाह के कुछ समय के पश्चात् ही पति की मृत्यु हो गई थी। कुछ नारियाँ योग्य होते हुये भी पति का पूरा

प्रेम नहीं पाती थीं। इस प्रकार की अनेक विवाहित-अविवाहित नारियाँ थीं जो अपने संरक्षक के लिए भार-स्वरूप थीं।

इन सभी स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी। वे परोपजीवी हो गई थीं और उसी रूप में रहने को बाध्य थीं। उनको एक ऐसा आश्रय चाहिए था जहाँ वे सामाजिक प्रताड़नाओं से मुक्त सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। ऐसी स्थिति में भिक्षुणी-संघ की स्थापना उनके लिए एक वरदान सिद्ध हुई। समाज की प्रायः सभी संत्रस्त नारियाँ इसमें प्रवेश करने का प्रयास करने लगीं। स्पष्ट है, तत्कालीन समाज के लिए भिक्षुणी-संघ का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

इसके अतिरिक्त भिक्षुणी-संघ की एक महत्त्वपूर्ण उपयोगिता नारियों को भय-मुक्त वातावरण प्रदान करना था। एक बार संघ में प्रवेश कर लेने के पश्चात् भिक्षुणी सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाती थी क्योंकि संघ उनको सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन देता था। भिक्षुओं को यह निर्देश दिया गया था कि वे किसी भी कीमत पर भिक्षुणी के शील की रक्षा करें। इस सत्प्रयास में यदि हिंसा का भी सहारा लेना पड़े तो वह स्तुत्य था तथा कट्टर अहिंसावादी जैन धर्म में भी ऐसी परिस्थिति में हिंसा करने वाला भिक्षु थोड़े से प्रायश्चित्त के पश्चात् शुद्ध हो जाता था[1]। मदनरेखा और पद्मावती के पतियों की हत्या कर दी गई थी। ऐसी अवस्था में जबकि वे भयभीत होकर इधर-उधर भटक रही थीं, जैन भिक्षुणी-संघ ने उनको एक भयमुक्त वातावरण प्रदान किया। इसी प्रकार का उदाहरण बौद्ध भिक्षुणी सुदिन्निका का है। सुदिन्निका के पति की मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका देवर सुदिन्निका को अपनी कामवासना का साधन बनाना चाहता था। उसकी कामवासना से बचने के लिए सुदिन्निका ने बौद्ध भिक्षुणी-संघ का आश्रय ग्रहण किया। इस प्रकार ऐसी सभी नारियों को जिन्हें सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने का कोई विकल्प नहीं था, जैन एवं बौद्ध धर्मों के भिक्षुणी-संघों ने आश्रय प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त, भिक्षुणी संघ ने विद्याध्ययन के लिए स्वस्थ वातावरण प्रदान किया। वहाँ के शान्त एवं एकान्त वातावरण में जहाँ हर समय ज्ञानचर्चा होती थी, भिक्षुणियों ने अपनी बुद्धि एवं विद्या का सर्वाधिक उपयोग किया। ऐसी कई जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों के उल्लेख प्राप्त

१. द्रष्टव्य—पंचम अध्याय।

होते हैं जो आगमों एवं पिटकों में निष्णात थीं। भद्राकुण्डलकेशा जिसने पहले जैन भिक्षुणी-संघ में तत्पश्चात् बौद्ध भिक्षुणी-संघ में प्रवेश लिया, तर्कशास्त्र की प्रवीण पण्डिता थी। धर्मोपदेश करना तथा दुःखी एवं संतप्त जनों को सान्त्वना एवं प्रसन्नता प्रदान करना भिक्षुणियों के जीवन का मुख्य लक्ष्य था। उपलब्ध सुख-सुविधाओं को त्याग कर विपरीत परिस्थितियों में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए वे दूर-दूर के देशों में गई और उन प्रदेशों के निवासियों को उन्हीं की सरल तथा सुबोध भाषा में धर्मोपदेश दिया। बौद्ध भिक्षुणी संघमित्रा राजकन्या होते हुए भी सुविधाओं को त्यागकर सिंहल गई और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार कर बौद्ध धर्म की नींव को मजबूत बनाया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भिक्षुणी-संघ का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में निहित था कि इसने नारियों को ऐसा अनुकूल वातावरण प्रदान किया जिसमें वे अपने ज्ञान एवं बुद्धि का उपयोग कर सकती थीं, साथ ही तप-साधना में लगी रह सकती थीं। निस्सन्देह, भिक्षुणी-संघ के अभाव में इन विदुषी भिक्षुणियों को अपनी प्रतिभा को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भिक्षुणी-संघ को उपयोगिता कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण थो। यह एक विशिष्ट प्रकार का आश्रयस्थल तथा नारीसुधार-गृह था जहाँ नारियों को अपने ज्ञान एवं बुद्धि के चतुर्दिक विकास का सुनहरा अवसर उपलब्ध था। निस्सन्देह, जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

परिशिष्ट–अ

*साहित्य एवं अभिलेखों में उल्लिखित जैन भिक्षुणियाँ

(अ) साहित्य में उल्लिखित जैन भिक्षुणियाँ

महावीर-पूर्वकालीन जैन भिक्षुणियाँ

ब्राह्मी—विशे० भा०, १६१२-१३; आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० १५२-१५६, २११.

सुन्दरी—वही ।

फल्गु—समवायांग, १५७; आव० नि०, २६०.

श्यामा—वही ।

अजिता—वही ।

काश्यपी—वही ।

रति—वही ।

सोमा—वही ।

सुमना—समवायांग १५७; आव० नि०, २६१.

वारुणी—वही ।

सुलसा—वही ।

धारिणी—वही ।

धरणी—वही ।

मेघमाला—वही ।

धरणीधरा—सम० १५७; आ० नि०, २६२.

पद्मा—वही ।

शिवा—वही ।

शुचि—वही ।

अंजुका—वही ।

रक्षिता—वही ।

मल्लि—ज्ञाताधर्मकथा, १।८.

* जैन एवं बौद्ध भिक्षुणी-संघ के इतिहास पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखक द्वारा तैयार किया जा रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा ।

पुष्पवती—सम०, १५७; आव० नि०, २६३.
पुरन्दरयशा—निशीथ विशेष चूर्णि, चतुर्थ भाग, ५७४१; उत्तराध्यन चूर्णि, पृ० ७३.
मनोहरी—आव० चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० १७६–७७.
अमला—सम० १५७, आव० नि०, २६३.
यक्षिणी—वही।
कमलामेला—बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका, १७२; आव० चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० ११२–१३.
गान्धारी—अन्तकृतदशांग, ५।३.
जाम्बवती—वही, ५।६.
द्रौपदी—ज्ञाताधर्मकथा, १।१६.
पद्मावती—अन्तकृतदशांग, ५।१.
मूलदत्ता—वही, ५।१०.
मूलश्री—वही, ५।९.
राजीमती—उत्तराध्ययन सूत्र, २२वाँ अध्याय।
रूक्मिणी—अन्तकृतदशांग, ५।८.
लक्ष्मणा—वही, ५।४.
सत्यभामा—वही, ५।७.
सुकुमालिका—बृहत्कल्पभाष्य, पंचम भाग, ५२५४–५९; निशीथ विशेष चूर्णि, द्वितीय भाग, २३५१–५६.
सुकुमालिका—ज्ञाताधर्मकथा, १।१६.
गोपालिका—वही।
सुसीमा—अन्तकृतदशांग, ५।५.
सुव्रता—ज्ञाताधर्मकथा, १।१४.
सुभद्रा—निरयावलिया, ४।३.
पुष्पचूला—सम०, १५७; आव० नि०, २६३.

ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम वर्ग में काली, राजी, रजनी, विद्युत, मेघा; द्वितीय वर्ग में शुंभा, निशुंभा, रंभा, निरंभा, मदना; तृतीय वर्ग में इला, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घना, विद्युता; चतुर्थ वर्ग में रूपा, सुरूपा, रूपांशा, रूपवती, रूपकान्ता, रूपप्रभा; पंचम वर्ग में कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भारिका, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा,

अवतंसा, केतुमती, वज्रसेना, रतिप्रिया, रोहिणी, नवमिका, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगवती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्वरा, सरस्वती; सप्तम वर्ग में सूर्यप्रभा, आतपा, अर्चिमाली, प्रभंकरा; अष्टम वर्ग में चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली, प्रभंकरा; नवें वर्ग में पद्मा, शिवा, सती, अंजू, रोहिणी, नवमिका, अचला, अप्सरा; दसवें वर्ग में कृष्णा, कृष्णराजि, रामा, रामरक्षिता, वसु, वसुगुप्ता, वसुमित्रा, वसुन्धरा नामक भिक्षुणियों के उल्लेख हैं जिन्हें पुष्पचूला आर्या की शिष्याएँ कहा गया है।

पोट्टिला—ज्ञाताधर्मकथा, १।१४.

(महावीरकालीन जैन भिक्षुणियाँ)

चन्दना—कल्पसूत्र, १३५; आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० ३२०.

अंगारवती—आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० ९१.

जयन्ती—भगवती, ४४१-४३; बृहत्कल्पभाष्य, भाग तृतीय, ३३८६.

देवानन्दा—कल्पसूत्र, २७; भगवती, ३८१-८२.

प्रभावती—उत्तरा० नि०, पृ० ९६; आव० चू०, द्वितीय भाग, पृ० १६४.

मृगावती—आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० ८८, १६५; आव० नि०, पृ० १०५५.

सुज्येष्ठा—आव० चू०, द्वितीय भाग, पृ० १६४-६६.

अन्तकृतदशांग सूत्र के सप्तम वर्ग में नंदा, नंदावती, नंदोत्तरा, नन्दश्रेणिका, मरुता, सुमरुता, महामरुता, मरुत्देवी, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमनातिका, भूतदत्ता तथा अष्टम वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा, महासेनकृष्णा आदि आर्यायों का उल्लेख है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि महावीर की समकालीन जिन भिक्षुणियों का वर्णन जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उनमें कुछ तो निश्चय ही ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं। यथा—चन्दना, अंगारवती, प्रभावती, सुज्येष्ठा, मृगावती, जयन्ती आदि। जयन्ती को उदयन की बहन, मृगावती को उदयन की माता, अंगारवती को अवन्तिनरेश चण्ड प्रद्योत की पत्नी, प्रभावती तथा सुज्येष्ठा को प्रसिद्ध वैशाली नरेश चेटक की पुत्री कहा गया है। चन्दना महावीर की प्रमुख शिष्या तथा चम्पा-नरेश दधिवाहन की पुत्री बतायी गई है। चम्पा पर कौशाम्बी-नरेश शतानीक (उदयन का पिता) द्वारा आक्रमण करने का उल्लेख है। इन नरेशों की ऐतिहासिकता

न केवल जैन स्रोतों से बल्कि बौद्ध स्रोतों से भी सिद्ध की जा चुकी है। पुनः इनके उल्लेखों में चमत्कारपूर्ण या अलौकिक वर्णन नहीं है। जहाँ तक श्रेणिक (बिम्बिसार—अजातशत्रु का पिता) की अधिक संख्या में पत्नियों के दीक्षित होने का प्रश्न है—उन सभी की ऐतिहासिकता को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लेना कठिन है। यह सम्भव है कि उसकी कुछ रानियाँ जैन धर्म के प्रति श्रद्धावान् रही हों तथा उनमें से कुछ ने दीक्षा भी ग्रहण की हो।

(महावीरोत्तरकालीन जैन भिक्षुणियाँ)

उत्तरा—उत्तरा० नि०, पृ० १८१, विशेषावश्यक भाष्य, ३०५३।
कीर्तिमती—आव० चू०, द्वितीय भाग, पृ० १९१.
धारिणी—वही, पृ० १८९.

स्थविर आर्य सम्भूतिविजय के शिष्य स्थविर स्थूलभद्र की सात बहनों के दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इनके नाम निम्न थे—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा। इन्होंने भाई के साथ ही आर्य सम्भूतिविजय से शिष्यत्व ग्रहण किया था। इसकी सूचना कल्पसूत्र की स्थविरावली (कल्पसूत्र, २०८) से प्राप्त होती है जो एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में मान्य है।

सरस्वती—निशीथ विशेष चूर्णि, द्वितीय भाग, २८६०.
याकिनी—आवश्यक टीका प्रशस्ति उद्धृत, समदर्शी आचार्य. हरिभद्र (पं० सुखलाल संघवी), पृ० १०७.
मरुदेवी—खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १२.
हेमदेवी—वही, पृ० ४४.
गुणश्री—वही, पृ० ५४.

खरतरगच्छ के आचार्य जिनपतिसूरि द्वारा आर्या अभयमति, आसमति तथा श्री देवी आदि स्त्रियों को दिक्षा देने का उल्लेख है।
—वही, पृ० ५३.
समयश्री—श्री षड्दर्शननिर्णय, पृ० ३३.
महिमश्री—वही।
मेरुलक्ष्मीश्री—वही।

(ब) अभिलेखों में उल्लिखित जैन भिक्षुणियाँ।

सिंहमित्रा—List of Brahmi Inscriptions, 16.
शष्ठिसिंहा—Ibid.
क्षुद्रा—Ibid, 18.

जया—Ibid, 21, 29.
वसुला—Ibid, 24, 70.
संगमिका—Ibid.
ग्रहा—Ibid, 32, 119.
कुमारमित्रा—Ibid, 39.
अक्का—Ibid, 48.
नन्दा—Ibid.
घकरब—Ibid, 50.
जिनदासी—Ibid.
दत्ता—Ibid, 67.
जीवा--Ibid.
भूतिबला—Ibid, 73.
धामथा—Ibid, 75.
नागदत्ता—Ibid, 86.
सादिता—Ibid, 117.
ब्रह्मा—Ibid, 119.
श्यामा—Ibid, 121.

उपर्युक्त वर्णित भिक्षुणियों को जानने के एकमात्र स्रोत मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त छोटे-छोटे लेख हैं।

इन सभी भिक्षुणियों का काल ईसा की प्रथम एवं द्वितीय शताब्दी है।
प्रभावती--जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ० ११.
अनन्तामती गन्ति--वही, पृ० १२.
दमितामती--वही, पृ० ११.
नागमती गन्ति--वही, पृ० १३.
धण्णेकुत्तारेविगुरवि--वही, पृ० १५.
शशिमती गन्ति—वही, पृ० १५.
चामेकाम्बा—वही, भाग द्वितीय, पृ० १८२-८६.
नाणब्बे--वही।
पाम्बब्बे—वही, पृ० १९७-९८.
ललितश्री—वही, पंचम भाग, पृ० २२.
मारब्बेकन्ति—वही, चतुर्थ भाग, पृ० ६९.
देवियब्बे—वही, पृ० ७०.

कंचलदेवी—जैन शिलालेखसंग्रह, चतुर्थ भाग, पृ० ३७८.
लवणश्री—वही, पंचम भाग, पृ० ३३.
सोना—वही, पृ० ११८.

देवगढ़ (झाँसी, उत्तर प्रदेश) से प्राप्त एक भग्न शिलापट्ट पर आर्यिका सिरिमा, पद्म श्री, संयम श्री, ललित श्री, रत्न श्री तथा जय श्री नाम अंकित है।

—वही, पृ० ११९

श्रीमती गन्ति—वही, प्रथम भाग, पृ० २८८.
मानकब्बे गन्ति—वही।
राज्ञीमती गन्ति—वही, पृ० ३१७.
सायिब्बे कन्तियर—वही, पृ० ३२१.
पोल्लब्बे कन्तियर—वही, पृ० ३२५.
कण्णब्बे कन्ति—वही, पृ० ३७३.
मालब्बे—वही।
मेकुश्री—वही, पंचम भाग, पृ० ४७.
देवश्री—वही, प्रथम भाग, पृ० २२६.
गौरश्री—वही।
सोमश्री—वही।
कनकश्री—वही।
मदनश्री—वही, तृतीय भाग, पृ० २२४.
पेण्डरवाच मुत्तब्बे—वही, चतुर्थ भाग, पृ० २१७.
जकोव्वे—वही, पृ० २५९.
नागव्वे—वही, पृ० ३७२.
नादोव्वे—वही, पृ० ३५६-५७.
यिल्लेकन्ति—वही, पृ० २९६.

परिशिष्ट—ब

साहित्य एवं अभिलेखों में उल्लिखित बौद्ध भिक्षुणियाँ

(अ) साहित्य में उल्लिखित बौद्ध भिक्षुणियां

गौतमबुद्ध-पूर्वकालीन बौद्ध भिक्षुणियाँ

नन्दा—बुद्धवंस, २।२१४.
सुनन्दा—वही।
तिष्या—वही, ३।३१.
उपतिष्या—वही।
अशोका—वही, ४।२४.
शिवला—वही।
सेना—वही, ५।२४.
उपसेना—वही।
भद्रा—वही, ६।२२.
सुभद्रा—वही।
नकुला—वही, ७।२२
सुजाता—वही।
सुन्दरी—वही, ८।२३.
सुमना—वही।
राधा—वही, ९।२२.
सुराधा—वही।
उत्तरा—वही, १०।२४.
फल्गुना—वही।
अमिता—वही, ११।२५.
असमा—वही।
रामा—वही, १२।२४.
सुरामा—वही।
नागा—वही, १३।२६.
नागसमाल—वही।
सुजाता—वही, १४।२१.

धर्मदत्ता—बुद्धवंस, १४।२१
धर्मा—वही, १५।२०.
सुधर्मा—वही।
क्षेमा—वही, १६।१९.
शब्ददत्ता—वही।
सविला—वही, १७।१९.
सुरामा—वही।
मेखलदायिका—Pali-Proper Names, Vol. II, P.651.
फुस्सा—बुद्धवंस, १८।२२.
सुदत्ता—वही।
चाला (साला)—वही, १९।२०.
उपचाला (उपसाला)—वही।
चन्दा—वही, २०।२९.
चन्द्रमित्रा—वही।
अखिला (मखिला)—वही, २१।२१.
पदुमा—वही।
दामा—वही, २२।२४.
समाला—वही।
श्यामा—वही, २३।२१.
चम्पा—वही।
समुद्रा—वही, २४।२३.
उत्तरा—वही।
कनकदत्ता—Pali-Proper Names, Vol. I. P. 508.
अनुला—बुद्धवंस, २५।४०.
उरुवेला—वही।

(गौतमबुद्धकालीन बौद्ध भिक्षुणियाँ)

क्षेमा—अंगुत्तर निकाय, १।१४; बुद्धवंस, २६।१९; थेरीगाथा, गाथा, १३९-४४–अट्ठकथा, ५२.
उत्पलवर्णा—अंगुत्तर निकाय, १।१४; बुद्धवंस, २६।१९; थेरीगाथा, गाथा, २२४-३५.—अट्ठकथा, ६४.
अर्द्धकाशी—चुल्लवग्ग, पृ० ३९७-९८; थेरीगाथा, गाथा, २७-२८—अट्ठकथा, २२.

अभयमाता—अंगुत्तर निकाय, १।१८८; थेरीगाथा, गाथा, ३३-३४—अट्ठ-कथा, २६.

अभिरूपानन्दा—थेरीगाथा, गाथा, १९-२०—अट्ठकथा, १९.

अम्बपाली—वही, २५२-७०—अट्ठकथा, ६६.

ऋषिदासी—वही, ४००-४४७—अट्ठकथा, ७२.

उत्तमा—वही, ४२-४४—अट्ठकथा, ३०.

उत्तमा—वही, ४५-४७—अट्ठकथा, ३१.

उत्तरा—वही, १५—अट्ठकथा, १५.

उत्तरा—वही, १७५-८१—अट्ठकथा, ५८.

उत्तरी—Pali Proper Names, Vol. I., P. 364.

अववादका—Ibid, P. 196.

उपचाला—थेरीगाथा, गाथा, १८९-९५—अट्ठकथा, ६०.

उपशमा—वही, १० —अट्ठकथा, १०.

उब्बिरी—वही, ५२-५३—अट्ठकथा, ३३.

कजंगला—Pali Proper Names, Vol. I., P. 482.

कृशागौतमी—थेरीगाथा, गाथा, २१३-२३—अट्ठकथा, ६३.

गुप्ता—वही, १६३-६८—अट्ठकथा, ५६.

चाला—वही, १८२-८८—अट्ठकथा, ५९.

चित्रा—वही, २७-२८—अट्ठकथा, २३.

जिनदत्ता—वही, ४२७—अट्ठकथा, ७२.

तिष्या (प्रथम)—वही, ४—अट्ठकथा, ४.

तिष्या (द्वितीय)—वही, ५—अट्ठकथा, ५.

स्थूलतिष्या—संयुत्त निकाय, २।२१५.

स्थूलनन्दा—Pali Proper Names, Vol. I., P. 1040-41.

थेरिका—थेरीगाथा, गाथा १—अट्ठकथा, १.

दन्तिका—वही, ४८-५०—अट्ठकथा, ३२.

धर्मदत्ता—वही, १२—अट्ठकथा, १२.

धर्मा—वही, १७—अट्ठकथा, १६.

धीरा (प्रथम)—वही, ६—अट्ठकथा, ६.

धीरा (द्वितीय)—वही, ७—अट्ठकथा, ७.

नन्दवती—Pali Proper Names, Vol. II., P. 23.

नन्दा—Ibid, P. 24.

नन्दा—अंगुत्तर निकाय, १।१४.

नन्दुत्तरा—थेरीगाथा, गाथा, ८७-९१—अट्ठकथा, ४२.

पटाचारा—अंगुत्तर निकाय, १।१४; थेरीगाथा, गाथा, ११२-१६—अट्ठकथा,४७.

पूर्णा—थेरीगाथा, गाथा, ३—अट्ठकथा, ३.

पूर्णिका—वही, २३७-५१—अट्ठकथा, ६५.

बोधी—वही, ४०१—अट्ठकथा, ७२.

भद्राकपिलानी—अंगुत्तर निकाय, १।१४; थेरीगाथा, गाथा, ६३-६६—अट्ठकथा, ३७.

भद्राकुण्डलकेशा—वही, १०७-१११—अट्ठकथा, ४६.

भद्रा—वही, ९,—अट्ठकथा, ९.

महाप्रजापति गौतमी—वही, १५७-६२—अट्ठकथा, ५५.

मुक्ता—वही, २,—अट्ठकथा, २.

मुक्ता—वही, ११—अट्ठकथा, ११.

मेत्ता—वही, ३१-३२—अट्ठकथा, २५.

मैत्रिका—वही, २९-३०—अट्ठकथा, २४.

रोहिणी—वही, २७१-९०—अट्ठकथा, ६७.

वजिरा—संयुत्त निकाय, ५।१०.

वाशिष्ठी—थेरीगाथा, गाथा, ३१२-२४—अट्ठकथा, ६९.

विजया—वही, १६९-७४—अट्ठकथा, ५७.

विमला—वही, ७२-७६—अट्ठकथा, ३९.

विशाखा—वही, १३—अट्ठकथा, १३.

सकुला—वही, ९७-१०१—अट्ठकथा, ४४.

संघा—वही, १८—अट्ठकथा, १८.

श्यामा (प्रथम)—वही, ३७-३८,—अट्ठकथा, २८.

श्यामा (द्वितीय)—वही, ३९-४१, अट्ठकथा, २९.

सिगालकमाता—अंगुत्तर निकाय, १।१४.

शिशूपचाला—थेरीगाथा, गाथा, १९६-२०३,—अट्ठकथा, ६१.

शुक्ला—वही, ५४-५६—अट्ठकथा, ३४.

सिंहा—वही, ७७-८१—अट्ठकथा, ४०.

सुजाता—वही, १४५-५०—अट्ठकथा, ५३.

सुन्दरी—वही, ३१२-३७—अट्ठकथा, ६९.

सुन्दरीनन्दा—वही, ८२-८६—अट्ठकथा, ४१.

शुभा—थेरीगाथा, गाथा, ३३८-६५—अट्ठकथा, ७०.
(सुभा कम्मारधीता)
शुभा—वही, ३६६-९९—अट्ठकथा, ७१.
(सुभा जीवकम्बवनिका)
सुमंगलमाता—वही, २२-४४—अट्ठकथा, २१.
सुमना—वही, १४—अट्ठकथा, १४.
सुमेधा—वही, ४४८-५२२—अट्ठकथा, ७३.
शैला—वही, ५७-५९—अट्ठकथा, ३५.
सोना—वही, १०२-१०६—अट्ठकथा, ४५.
सोमा—वही, ६०-६२—अट्ठकथा, ३६.

(गौतमबुद्धोत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुणियाँ)

उदकदायिका—थेरीअपदान पालि, १।१०।११६-३०.
उत्पलदायिका—वही, ४।३।५७-८१.
एकपिण्डदायिका—वही, १।६।४६-५९.
एकासनदायिका—वही, २।४।३७-६०.
एकूपोसथिका—वही, २।१।१-२१.
कटच्छुभिक्खदायिका—वही, १।७।६०-७०.
कण्टका—Pali Proper Names, Vol. I. P. 494.
गिरिद्धि—Ibid, P. 769.
चूलसुमना—Ibid, P. 906.
छन्ना—Ibid, P. 925.
तिष्या—Ibid, P. 1030.
दासिया(प्रथम)—Ibid, P. 1076.
दासिया (द्वितीय)—Ibid.
धर्मतापसा—Ibid, P. 1140.
धर्मा—Ibid, P. 1153.
नन्दा—Ibid, Vol. II. P. 24.
नरमित्रा—Ibid, P. 33.
नलमालिका—Ibid, P. 36.
नागमित्रा—Ibid, P. 44.
नागा (प्रथम)—Ibid, P. 47.
नागा (द्वितीय)—Ibid.

पदुमा—Pali Proper Names, Vol. II. P. 136.
पब्बतछिन्ना—Ibid, P. 142.
बोधिगुप्ता—Ibid, P. 318.
फेग्गु—Ibid, P. 259.
मत्ता—Ibid, P. 431.
मल्ला—Ibid, P. 454.
महाकाली—Ibid, P. 485.
महातिष्या—Ibid, P. 498.
महादेवी—Ibid, P. 506.
महारूहा—Ibid, P. 550.
महासुमना—Ibid, P. 578.
महासोना—Ibid, P. 581.
महिला—Ibid, P. 591.
माला—Ibid, P. 621.
मैत्रिका—Ibid, P. 660.
रेवता—Ibid, P. 756.
लक्षधर्मा—Ibid, P. 767.
संघदासी—Ibid, P. 988.
संघा—Ibid, P. 1004.
सद्धर्मनन्दी—Ibid, P. 1017.
सपत्रा—Ibid, P. 1028.
सबला—Ibid, P. 1032.
समुद्रा—Ibid, P. 1056.
साता—Ibid, P. 1091.
सीवला (प्रथम)—Ibid, P. 1162.
सीवला (द्वितीय)—Ibid; P. 1163.
सुमना—Ibid, P. 1246.
सोना (प्रथम)—Ibid, P. 1297.
सोना (द्वियीय)--Ibid, P. 1298.
शोभना—Ibid, P. 1304.
शोभिता—Ibid, P. 1306.
सोमा—Ibid, P. 1310.
संघमित्रा—महावंस, १८।१३; १९।५-८३; ५।१९०-२०८.

आयुपाला—महावंस, ५।२०८.
सुमा - Pali Proper Names, Vol. II. P. 1247.
हेमा—Ibid, P. 1330.
हेमासा—Ibid, P. 1331.
नन्दा—महावंस, ४।३८.
कामन्दकी—मालती माधव ।
सौदामनी—वही ।
अवलोकिता—वही ।
बुद्धरक्षिता—वही ।

ब—अभिलेखों में उल्लिखित बौद्ध भिक्षुणियाँ

देवभागा—List of Brahmi Inscriptions, 168.
अचला (प्रथम) Ibid, 175.
अचला (द्वितीय) Ibid, 462.
चण्डा (चन्द्रा)—Ibid, 183.
अवदातिका—Ibid, 187.
कादी—Ibid, 226.
किराती—Ibid, 239.
संघदत्ता—Ibid, 253.
यक्षी—Ibid, 254.
धर्मरक्षिता—Ibid, 274.
ऋषिदत्ता—(प्रथम)—Ibid, 292.
ऋषिदत्ता (द्वितीय)—Ibid, 305.
बलिका—Ibid, 317.
धर्म श्री—Ibid, 318.
अविशण्णा—Ibid, 319, 352.
ऋषिदासी—Ibid, 327, 402.
दुश्प्रसहा—Ibid, 328.
यक्षदासी—Ibid, 329.
अर्हंदासी—Ibid, 333.
बुद्धपालिता—Ibid, 341.
यक्षी—Ibid, 344.
गिरिगुप्ता—Ibid, 368.
जितमित्रा—Ibid, 365.

प्रियधर्मा—List of Brahmi Inscriptions, 368.
पुष्या—Ibid, 369.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 374.
श्रीदत्ता—Ibid, 383, 536.
ऋषभा—Ibid, 400.
धर्मयशा—Ibid, 410.
मित्रा—Ibid, 412.
शान्ति श्री—Ibid, 427.
ऋक्षावती—Ibid, 430.
संघरक्षिता—Ibid, 434.
गदा (प्रथम)—Ibid, 438.
गदा (द्वितीय)—Ibid, 439.
दत्ता—Ibid, 452.
नन्दोत्तरा—Ibid, 468.
नाति—Ibid, 471.
सुप्रस्थामा—Ibid, 478.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 489.
मित्रश्री—Ibid, 492.
यक्षी—Ibid, 500.
वज्रिणी—Ibid, 504.
वसुमित्रा—Ibid, 509.
वासवा—Ibid, 512.
विपुला—Ibid, 515.
वीरा—Ibid, 520.
मोहिका—Ibid, 524.
संघरक्षिता—Ibid, 526.
स्वामिका—Ibid, 533, 534.
श्री मित्रा—Ibid, 538.
श्री—Ibid, 539.
सिंहा—Ibid, 542.
सूर्या—Ibid, 546.
संघपालिता—Ibid, 557.
दना—Ibid, 561.

रितली—List of Brahmi Inscriptions, 568.
सर्पकी—Ibid, 582.
वला—Ibid, 583.
धर्मसेना—Ibid, 584.
फाल्गुला—Ibid, 586.
यमरक्षिता—Ibid, 588.
मूला—Ibid, 589.
ऋषिदासी—Ibid, 590.
ओदी—Ibid, 593–611.
अश्वदेवा—Ibid, 618.
ऋषिदत्ता—Ibid, 620.
गौतमी—Ibid, 623.
किराती—Ibid, 624.
अश्वदेवा—Ibid, 629,
ऋषिमित्रा—Ibid, 630.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 637.
भिक्षुणिका—Ibid, 641.
श्रवणश्री—Ibid, 645.
नन्दिका—Ibid, 674.
बद्धिका—Ibid, 716.
श्रमणा—Ibid, 720.
दिन्नागा—Ibid, 723.
नागा—Ibid, 761.
नागिला—Ibid, 778.
पुष्यदत्ता—Ibid, 806.
सर्पगुप्ता—Ibid, 815.
सोमा—Ibid, 817,
नागदेवा—Ibid, 819.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 840.
फल्गुदेवा—Ibid, 870.
उद्ग्रहका—Ibid, 910.
पोणकीसणा—Ibid, 1006.
दामिला—Ibid, 1014.

सर्पा—List of Brahmi Inscriptions, 1020.
बोधि—Ibid, 1059.
सर्पिला—Ibid, 1060.
आषाढ़मित्रा—Ibid, 1098.
कोदी—Ibid, 1104.
बोधि—Ibid, 1240.
सिद्धार्थी—Ibid, 1242.
धर्मा—Ibid, 1246.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 1250.
संघरक्षिता—Ibid, 1262.
रोहा—Ibid, 1264.
माला—Ibid, 1286.
सुमुद्रिका—Ibid.
बुद्धरक्षिता—Ibid, 1295.
संघमित्रा—Ibid.

जैन एवं बौद्ध भिक्षुणियों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के सम्बन्ध में कुछ तथ्य द्रष्टव्य हैं। प्रथमतः, ये विवरण मुख्यतः साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों पर अवलम्बित हैं। यह दुर्भाग्य रहा है कि जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में भिक्षुणी-संघ के इतिहास को सुरक्षित रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ सन्दर्भों को छोड़कर भिक्षुणियों के इतिहास के बारे में जैन धर्म की दोनों ही परम्पराएँ तथा बौद्ध धर्म में विकसित हुए अनेक निकाय लगभग मौन ही हैं। हमारे पास भिक्षुणियों के इतिहास से सम्बन्धित जो कुछ सामग्री उपलब्ध है भी, उसका पूर्णतः उपयोग नहीं किया गया। अभी अनेक ऐसे अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थ एवं अभिलेख हैं जिनसे भिक्षुणियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। निश्चय ही, हजारों ऐसी भिक्षुणियाँ रहीं होंगी जिन्होंने इन धर्मों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया होगा परन्तु आज हमें उन्हें "अनाम" मानकर ही सन्तोष कर लेना होगा।

इन साक्ष्यों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का प्रश्न भी विचारणीय है। जैन परम्परा ऋषभ के काल से लेकर महावीर के काल तक अनेक भिक्षुणियों का उल्लेख करती है। जिस प्रकार जैन तीर्थंकरों की पौराणिकता और ऐतिहासिकता का प्रश्न विचारणीय है—उसी तरह जैन भिक्षुणियों की पौराणिकता एवं ऐतिहासिकता का प्रश्न भी विचारणीय

है। इतिहासविदों के अनुसार, जैन तीर्थंकरों में पार्श्व एवं महावीर की ऐतिहासिकता स्वीकृत की जा सकती है—शेष तीर्थंकरों को वे पौराणिक ही मानते हैं। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि पार्श्व एवं महावीरकालीन जिन भिक्षुणियों के उल्लेख मिलते हैं—सम्भवतः वे ऐतिहासिक हों। फिर भी, पार्श्व एवं महावीरकालीन उल्लिखित सभी भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें भी पौराणिकता के तत्त्व प्रविष्ट हो गये हैं। महावीरकालीन राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) की रानियों के जो उल्लेख अन्तकृतदशांग में मिलते हैं—उनकी ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न लगाता है। काली, सुकाली, महाकाली आदि नामों की कल्पना ही उनकी ऐतिहासिकता को संदिग्ध बना देती है। वस्तुतः किसी भी धर्म-परम्परा के साहित्यिक उल्लेखों में ऐतिहासिकता और पौराणिकता के बीच बहुत स्पष्ट रेखा खींच पाना कठिन है। यह सम्भव है कि राजा श्रेणिक के अन्तःपुर की कुछ स्त्रियों ने महावीर के समीप भिक्षुणी-दीक्षा अंगीकार की हो, किन्तु उनका जीवन-वृत्त ठीक वैसा ही था जैसा अन्तकृतदशांग अथवा अन्य साहित्यिक साक्ष्यों में उल्लिखित है— यह ऐतिहासिकता की दृष्टि से बहुत जटिल समस्या है। हमारे पास किसी पुराकालीन व्यक्ति की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने के लिए मुख्यतः साहित्यिक आधार ही उपलब्ध हैं और हमें केवल अपने तर्क-बल से यह निश्चय करना होता है कि इसमें कितना ऐतिहासिक है और कितना पौराणिक।

बौद्ध भिक्षुणियों के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त बातें सत्य प्रतीत होती हैं। जैन धर्म के तीर्थंकर की अवधारणा के समान बौद्ध धर्म में भी गौतम बुद्ध के पूर्व अनेक बुद्धों की कल्पना की गई है। उन बुद्धों की प्रधान भिक्षुणियों के उल्लेख हमें एक पश्चातकालीन ग्रन्थ बुद्धवंस में मिलते हैं। जिस प्रकार शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध के पूर्व प्रायः सभी बुद्ध, इतिहासकारों की दृष्टि में, ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माने गये हैं, उसी प्रकार उन बुद्धों के काल की भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता भी संदिग्ध ही है। गौतमबुद्धकालीन भिक्षुणियों के उल्लेख हमें मुख्यतः थेरीगाथा एवं उसकी अट्ठकथा परमत्थदीपनी से प्राप्त होता है। यद्यपि कुछ प्रसिद्ध भिक्षुणियों यथा—क्षेमा, उत्पलवर्णा, पटाचारा, महाप्रजापतिगौतमी, अर्द्धकाशी, कृशागौतमी, अम्बपाली, स्थूलनन्दा आदि के उल्लेख हमें विनय-पिटक, निकायों एवं महासांघिक सम्प्रदाय के भिक्षुणी विनय नामक ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। अतः इन भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्यों में उल्लिखित महावीर एवं बुद्ध की उत्तरकालीन भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उन्हें भी यथारूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। कालान्तर के ग्रन्थों में अपनी धर्म-प्रभावना में वृद्धि के लिए अनेक कथाओं की रचना की गई और इसमें अनेक काल्पनिक पात्रों को भी स्थान दिया गया। अतः महावीर एवं बुद्ध के परवर्तीकाल में रचित ग्रन्थों में उल्लिखित सभी भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता को स्वीकार करना कठिन सा प्रतीत होता है। फिर भी उनमें उल्लिखित कुछ भिक्षुणियाँ निश्चय ही ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं। जैन साहित्य में प्रसिद्ध आचार्य स्थूलभद्र की सात बहनों द्वारा दीक्षा लेने का उल्लेख है। स्थूलभद्र की ऐतिहासिकता निर्विवादरूप से सिद्ध है--इसी आधार पर उनकी बहनों की भी वास्तविकता को हमें स्वीकार करना होगा। फिर, इनके कथानक में कहीं भी अतिरंजित वर्णन नहीं है। इसी प्रकार प्रसिद्ध मौर्य सम्राट अशोक की पुत्री संघमित्रा की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करना कठिन है। इनके उल्लेख हमें अनेकशः बौद्ध ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। साथ ही, दीपवंस एवं महावंस में उल्लिखित भिक्षुणियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न भी विचारणीय है। महावंस में, स्थूलतः, पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर लगभग चौथी शताब्दी ईस्वी तक की घटनाओं का वर्णन है। इसकी अधिकांश सामग्री, निश्चय ही, ऐतिहासिक सत्य के निकट प्रतीत होती है। बिम्बिसार से अशोक तक जिन मुख्य नरेशों के नाम महावंस में प्राप्त होते हैं, उन्हीं राजाओं में से कुछ नाम पुराणों में भी हैं। इन नरेशों के राज्यकाल भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगभग समान ही हैं। अतः महावंस में जिन भिक्षुणियों के उल्लेख हैं, उनकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परन्तु गौतमबुद्धोत्तरकालीन जिन बौद्ध भिक्षुणियों के उल्लेख हमें साहित्यिक साक्ष्यों (विशेषकर थेरीअपदान पालि) से प्राप्त होते हैं, उनकी ऐतिहासिकता सर्वथा संदिग्ध है। इन भिक्षुणियों--यथा उदकदायिका, उत्पलदायिका, एकासनदायिका, कटच्छुभिक्खदायिका आदि) के नाम सम्भवतः कथा को प्रसिद्ध बनाने के लिए कल्पित किये गये। उनकी ऐतिहासिकता को सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई स्रोत नहीं है।

जैन एवं बौद्ध धर्म के साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर उनके भिक्षुणी-संघ का इतिहास प्रस्तुत करने में हमारा यह प्रथम प्रयत्न है। अतः सम्भव है कि इसमें कुछ अपूर्णताएँ हों--हम यह अपेक्षा करते हैं कि भविष्य में कोई विद्वान इस महत् कार्य को पूर्ण करेगा।

अनुक्रमणिका

अ

ह

मूलग्रन्थ-सूची

अंगुत्तर निकाय : हिन्दी अनुवाद-भदन्त आनन्द कौशल्यायन महाबोधि सभा, कलकत्ता।

अन्तकृतदशांग : व्याख्याकार—श्री ज्ञानमुनिजी महाराज, आचार्य श्री आतमाराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक लुधियाना, संवत् २०२७।

अष्टप्राभृत : कुन्दकुन्दाचार्यकृत—श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री शान्तिवीर नगर, राजस्थान।

आचारांग सूत्र : हिन्दो अनुवाद—अमोलक ऋषि, श्री अमोलक जैन ज्ञानालय, धूलिया, महाराष्ट्र १९६०।

आवश्यक चूर्णि (प्रथम एवं उत्तर भाग) : श्री ऋषभदेवजी केशरीमल जी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, १९२९।

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका (प्रथम एवं द्वितीय भाग) : माणिक्यशेखरसूरिविरचिन–जैनग्रन्थमाला, गोपीपुरा सूरत।

उत्तराध्ययन सूत्र : सम्पा०—साध्वी चन्दना, सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा, १९७२।

उत्तराध्ययन वृत्ति(दो भाग में) : देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार समिति झावेरी बाजार, बम्बई १९१६।

उपनिषद् संग्रह : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी (प्रथम संस्करण), १९७०।

ऋग्वेद : सम्पादक—सान्तबलेकर, भारत मुद्रणालय, सतारा, १९४०।

ओघनिर्युक्ति (वृत्ति) : भद्रबाहुकृत, आगमोदय समिति, १९१९।

कप्पसुत्तं (कल्पसूत्र) : प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७।

कप्पसुत्तं (बृहत्कल्पसूत्र) : सम्पा०—मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव, राज़-स्थान, १९७७।

बृहत्कल्पभाष्य (छः भगों : श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९३६ ।

गच्छायार पइण्णयं (गच्छाचार) : रामजी दास किशोर चन्द्र जैन, मानसा मण्डी, पेप्सू, १९५१ ।

चुल्लवग्ग पालि : नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, १९५६ ।

जीतकल्पसूत्र : श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणविरचित, संशोधक—मुनि पुण्यविजय, भाईश्री बबलचन्द्र केशवलाल मोदो हाजापटेलनी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९४ ।

ज्ञाताधर्मकथा (नायाधम्मकहाओ) : सम्पा०—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, श्री तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर, १९६४।

थेरीगाथा : उत्तमभिक्खुणा पकासितो, रंगून, १९३७।

दशवैकालिक : अनु०—घेवरचन्द बांठिया, अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, १९८५ ।

दीघ निकाय : अनु०—राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९३६ ।

धम्मपद : अनु० एवं सम्पा०–भिक्षु धर्मरक्षित, खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली, वाराणसी, १९५९ ।

ध्यानशतक : जिनभद्रक्षमाश्रमणविरचित, विनयसुन्दर चरण ग्रन्थमाला, जामनगर, वि० सं०, १९७७ ।

निशीथ सूत्र : अनु०—अमोलक ऋषिजी, जैन शास्त्रोद्धार मुद्रालय, सिकन्दराबाद ।

निशीथ विशेष चूर्णि (चार भागों में) : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५७।

पाचित्तिय पालि : नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार सरकार) १९५८।

पातिमोक्ख : सम्पा०—आर० डी० वाडेकर, भण्डारकर ओरियण्टल सीरीज प्रथम, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९३९।

पाराजिक पालि : नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार सरकार) १९५८।

पिण्डनियुंक्ति : भद्रबाहु, मलयाचार्य वृत्ति, देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९१८।

प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्यविरचित, सम्पा०—ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद राजचन्द्र जैन शास्त्र-माला, गुजरात, १९६४।

बुद्धवंस : सम्पा०—राहुल सांकृत्यायन, उत्तमभिक्खु।

भिक्षुणी विनय : सम्पादक—गुस्तव राथ, रंगून, १९३७। के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना, १९७०।

मज्झिम निकाय : अनु०—राहुल सांकृत्यायन, द्वितीय संस्करण, १९६४, महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९६४।

महाभारत : वेदव्यासप्रणीत गीता, प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर।

महावंस : अनु०—डब्ल्यू० गाइगर, सीलोन गवर्नमेंट, इन्फार्मेशन डिपार्टमेण्ट, कोलम्बो।

महावग्ग पालि : नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, १९५६।

मालतीमाधव : भवभूतिविरचित, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७३।

मूलाचार (प्रथम एवं द्वितीय भाग) : माणिकचन्द्र, दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, गिरगाँव, बम्बई, वि० सं० १९७७।

रामायण : वाल्मीकिकृत, सम्पा०—एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री, मद्रास लॉ जर्नल प्रेस, १९३३।

विनय-पिटक : अनु० राहुल सांकृत्यायन. महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस, १९३५)।

व्यवहार सूत्र : सम्पा०—मुनि श्री कन्हैयालाल जी "कमल", आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव, राजस्थान।

संयुत्त निकाय : अनु०—भिक्षु जगदीश काश्यप, भिक्षु धर्मरक्षित, प्रथम संस्करण, १९५४, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।

समन्तपासादिका (तीन भागों में) : सम्पादक—बीरबल शर्मा, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, १९६५।

सूत्रकृतांग : अनु०—मुनि अमोलक ऋषिजी, श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धूलिया, महाराष्ट्र, १९६३।

स्थानांग : सम्पा०—मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव, राजस्थान।

हर्षचरितम् : बाणभट्टकृत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

जातककालीन भारतीय संस्कृति : महतो, मोहन लाल, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना।

जैन कला एवं स्थापत्य (तीन भागों में) : सम्पा०—घोष, अमलानन्द, (अनु०--लक्ष्मी चन्द्र जैन) भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, १९७५।

जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन : दिगे, अर्हद्दास बंडोबा (पा० वि० ग्रन्थमाला : २३) सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९८१।

जैन शिलालेख संग्रह (प्रथम भाग) : सम्पा०—जैन हीरालाल, श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

वही (द्वितीय एवं तृतीय भाग) : सम्पा०—विजयमूर्ति, श्री माणिक चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

वही (चतुर्थ एवं पंचम भाग) : सम्पा०—जोहारपुरकर, विद्याधर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी (वाराणसी)।

थेरी गाथाएँ : उपाध्याय भरत सिंह, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली।

धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) : काणे, पी० वी० (अनु०—अर्जुन चौबे), हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

निशीथ-एक अध्ययन : मालवणिया, दलसुख, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा।

बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष : बापट, पी०, वी०, पब्लिकेशन डिविजन, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली, १९५६।

बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन : जैन, कोमल चन्द्र, सोहन लाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९६७।

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास (द्वितोय संस्करण) : पाण्डेय, गोविन्द चन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

ENGLISH

Age of Imperial Unity (Part II) : Ed. Majumdar R.C., Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1951

Ancient Indian Education (Brahmanical And Buddhist) : Mookerji R. K., Macmillon and Company, London, 1947

Asceticism In Ancient India : Chakraborti, H., Punthi Pustaka, Calcutta, 1973

Asoka : Mookerji, R.K., Macmillion And Co., London, 1928

Buddha, His Life, His Doctrine, His Order (translated into English from German by William Holi) : Oldenberg, H., Book Company Ltd. Calcutta, 1927

Buddhist Sects In India (Re-print, 1978) : Dutta, Nalinaksha, Firma, KLM, Private Ltd. Calcutta, 1977

Contribution to the History of Brahmanical Asceticism (Poona Oriental Series, No. 64) : Sharma, H. D., Oriental Book Agency, Poona, 1939

Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. I (Inscriptions of Asoka) : Ed. Hultzsch, E., The clarendon Press, Oxford, 1925

Dictionary of Early Buddhist Monastic Terms : Upasaka, C. S., Bharatiya Prakashan, Varanasi, 1975

Dictionary of Pali Proper Names : Malalasekerara, G.P., Indian Text Series, London, 1937

Dictionary of Prakrita Proper Names (L. D. Series, 28) : Ed. Malavaniya, Dalsukha, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1970

Early Buddhist Jurisprudence : Bhagavat, Durga N., Oriental Book Agency, Poona, 1939

Early Buddhist Monachism : Dutta, Sukumar

(From 600 B. C. to 100 B. C.) : Kegal Paul, Trench Trubner & Co. Ltd. London, 1924

Early Monastic Buddhism (Part I) (Calcutta Oriental Series No. 30) : Dutta, Nalinaksha, Calcutta Oriental Press Limited, 1941

Education In Ancient India : Altekar, A. S., Nand Kishor And Bros, Banaras, 1944

Epigraphia Indica (Vol. II) : Ed.-Burgess, Jas. Motilal Banarasidass, Jawahar Nagar Delhi-7, 1970

Essence of Buddhism : Narasu, P., Lakshmi Thacker & Co. Ltd. Bombay, (Third Edition, 1948)

History of Indian Literature (Vol. II) : Winterniz, Maurice, University of Calcutta, 1933

Heart of Jainism : Stevenson, S. (First Indian Edition, November, 1970, Munshiram Manoharlal, New Delhi.

History of Jain Monachism : Dev. S. B., Deccan College, Post Graduate and Research Institute, Poona, 1956

Indian Architecture (Buddhist and Hindu) (Seventh Re-print) : Brown, Percy, D. B. Taraporavela Sons And Co. Private Ltd., Bombay 1976

Jaina Monastic Jurisprudence : Dev, S. B., Jain Cultural Research Society, Benares, 1960

Life of Buddha As Legend And History : Thomas, Edward, Kegan Paul Trench Trubaner And Co. Ltd. London 1927

List of Brahmi Inscriptions (From Earliest Times to About A. D. 400 with the exception of those of Asoka) : Berlin, H. Luders, Indological Book House, Varanasi 1973

On Yuan Chang's Trevells In India : Waters, thomas, Royal Asiatic Society, London

Position of Women In Hindu Civilization : Altekar, A. S. The Culture Publication House, B.H.U., 1938

Studies In the Origins of Buddhism : Pandey, G.C., Ancient Hist. Cult. And Arch. Department, Allahabad University, 1957

Travells of Huen-Tsong (Si-Yu-Ki. Buddhist Records of the Western World) : Beal, Samual, Sushil Gupta, India Limited, Calcutta, 1957

Women In Buddhist Literature : Law, B. C., W. E. Bastian & Co., Ceylon 1927

Women Under Primitive Buddhism : Horner, I. B. (First Edition, London, 1930, Re-print New Delhi, 1975) Motilal Banarasidass, New Delhi.

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. Political History of Northern India from Jaina Sources —Dr. G. C. Choudhary 80.00
2. An Early History of Orissa—Dr. Amar Chand Mittal 40.00
3. A Cultural Study of the Nisitha Curni—Dr. Madhu Sen 60.00
4. Jaina Temples of Western India—Dr. Harihar Singh 200.00
5. The Concept of Pañcaśīla in Indian Thought —Dr. Kamla Jain 50.00
6. Doctoral Dissertations in Jaina and Buddhist Studies —Dr. Sagarmal Jain & Dr. Arun Pratap Singh 40.00
7. Studies in Jaina Philosophy—Dr. N. M. Tatia 100.00
8. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता २०.००
9. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग १ से ७) २९०.००
10. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन ३०.००
11. उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन ४०.०० (उ० प्र० सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
12. जैन धर्म में अहिंसा—डा० बशिष्ठनारायण सिन्हा ३०.००
13. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक—डा० प्रेमचन्द्र जैन ३०.०० (उ० प्र० सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
14. जैन धर्म दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता ३०.०० (उ० प्र० सरकार द्वारा १००० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
15. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन सहित)—पं० सुखलाल संघवी ४०.००
16. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन-डा० अर्हद्दास बंडोवा दिगे ३०.००
17. जैन प्रतिमा विज्ञान—डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी १२०.००
18. प्राकृत दीपिका—डा० सुदर्शनलाल जैन (छात्र संस्करण) १५.०० (पुस्तकालय संस्करण) २५.००
19. जैनाचार्यों का अलङ्कार शास्त्र को योगदान-डॉ० कमलेश कुमार ४०.००
20. जैनदर्शन में आत्मविचार—डॉ० लालचन्द जैन ५०.००
21. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन—डॉ० फूलचन्द जैन ५०.००
22. आनन्दघन का रहस्यवाद—डॉ० साध्वी सुदर्शना श्री जी ४०.००
23. वज्जालग्गं (हिन्दी अनुवाद)—श्री विश्वनाथ पाठक ८०.०० छात्र संस्करण ६०.००

—: प्राप्ति स्थान :—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५ (उ० प्र०)